आनन्द मार्ग

(आनन्द मार्ग का प्रारम्भिक दर्शन)

श्रीश्री आनन्दमूर्ति

© आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय कार्यालय) द्वारा
सर्वस्वत्व संरक्षित

आनन्दनगर,पो० बागलता,पुरुलिया, प०ब०

रेजिष्टर्ड अफिस : आनन्दनगर, पो० वागलता,
जिला : पुरुलिया, प० ब०

सम्पर्क कार्यालय : : ५२७ वी. आई. पि. गर
कलिकाता- ७००१००

प्रथम संस्करण : १९५५ इं०

षष्ठ संस्करण : १९८५ इं०

सप्तम मुद्राकर : ५३ मार्च, २००२

नवम संस्करण : २०१६ इं०

अनुवादक : श्री चन्द्रनाथ कुमार

प्रकाशक : आचार्य मन्त्रेश्वरानन्द अवधूत
(केन्द्रीय प्रकाशन सचिव)
आनन्दमार्ग प्रचारक संघ
कलिकाता - ७०० १००

मुद्राकर : आनन्द प्रिण्टार्स
३/१सि, मोहनबागान लेन,
कलि- ७००००४
अक्षरबिन्यास : श्री गणपति प्रेस ३६/डा: बेथुन
रो, कलिकाता - ७००००६
प्राप्तिस्थान : प्रभात इब्रेरी, ६१ महात्मा
गाँधी रोड कलिकाता - ७००
००३१
ISBN 81-7252-136-7
मूल्य : पचिश रुपए मात्र

चरम निर्देश

"जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करते हैं , मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उनके मन में अवश्य ही जगेगी और निश्चित रूप से उनकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रतयेक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी - यही है परमपुरुष का निर्देश । यम - नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम - नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि - कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी भी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकार शाश्वती शान्ति लाभ करें , इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्दमार्ग के कल्याण - पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्त्तव्य है । दूसरों को सत्पथ का निर्देशन करना साधना का ही अंग "

श्री श्री आनन्दमूर्ति

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ঌ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ	
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah	

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṇa	ca	cha	ja	jha	iṇa

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
́ta	́tha	́da	́dha	́na	ta	tha	da	dha	na

प फ ब भ म
ꣾ
প ফ ব ভ ম
Pa pha ba bha ma

य र ल व
য ऱ ল ব
ya ra la va

श ष स ह क्ष
শ ষ স হ ক্ষ
sha śa sa ha kśa

अँ ज्ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं
অঁ জ্ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোঽহং
aṇ jiṇa rśi cháya jiṇána samśkrta tato'haṁ

a á b c d ḍ e g h i j k l m ṁ n
ṅ ṇ o p r s ś t ṭ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २९ अक्षर

मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना

सम्भव है । इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है । अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं । शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं । ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं । प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

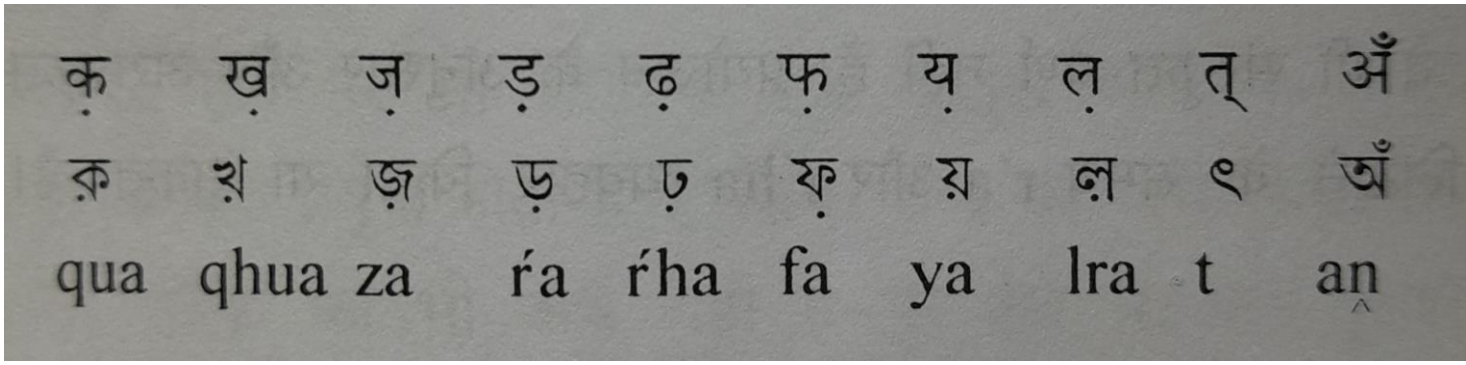

॥ सूचीपत्र ॥

विषय

१) धर्म क्या है ?
२) विभु सत्ता क्या है ?
३) जगत् क्या है ?
४) मैं कौन हूँ या क्या हूँ ?
५) जगत् और भूमासत्ता के साथ मेरा क्या सम्पर्क है?
६) इस जगत् में मनुष्य को कैसे रहना चाहिये ?
७) मनुष्य का लक्ष्य क्या है ?
८) आध्यात्मिक अनुशीलन तथा उसकी प्रयोजनीयता
९) मनुष्य साधना से क्यों भयभीत होते हैं ?

धर्म क्या है ?

विकाश के क्रम की चरम सीमा पर मनुष्य अपने चैतन्य के, मनुष्य अपने इसी विकशित चैतन्य के कारण अच्छा-बुरा का निर्णय करने तथा विपत्ति से मुक्ति पाने का पथ ढूँढ़ने में सक्षम है। जीव मात्र ही दुःख- दुर्दशाग्रस्त जीवन नहीं चाहता है । और प्रतिकार करने में सक्षम विकशित-चैतन्य जीव मनुष्य तो बिलकुल ही नहीं चाहता है । वस्तुतः मनुष्य का स्वभाव ही है आनन्द को ढूँढ़ना । अब देखा जाय आनन्द- प्राप्ति के उद्देश्य से मनुष्य क्या करता है तथा उसको यह प्राप्त होता है या नहीं ।

आनन्द की खोज में मनुष्य सर्व प्रथम पार्थिव भोगी की ओर ही आकृष्ट होता है–इच्छा की निवृत्ति के लिए वह धन संचय करता है, शक्ति और प्रभाव अर्जन करने में तत्पर होता है किन्तु ये सारी वस्तुएँ उसे आनन्द नहीं दे पाती हैं। जिसके पास आज एक सौ रुपया है वह एक हजार पाना चाहता है, जिसके पास एक हजार है वह लाख रुपये का मालिक बनना चाहता है । इच्छाओं की इस प्रकार से क्रमशः बढ़ती हुई गति का अन्त नहीं होता है । आज जो अपने जिले में प्रभावशाली व्यक्ति हैं वे चाहते हैं कि सारे प्रदेश में मैं प्रभावशाली बनूँ । उसी प्रकार प्रादेशिक नेता राष्ट्रनेता बनना चाहते हैं और राष्ट्रनेता बनने पर भी उनके मन में विश्व नेता बनने की वासना जाग उठती है । अर्थात् सीमित सम्पत्ति, यश, शक्ति, प्रभाव इत्यादि मनुष्य की वासनाओं की निवृत्ति नहीं कर पाते हैं वरन् भोग

की वृत्ति को और भी बढ़ा देते हैं और इन सबसे मनुष्य की अनन्त क्षुधा अतृप्त ही रह जाती है ।

कितना भी अधिक धन की प्राप्ति क्यों न हो, अनन्त सुख के प्यासे मानव मन को वह परितृप्त नहीं कर सकती है। जो लोग धन, मान, यश, ख्याति इत्यादि के पीछे दौड़ते हैं वे जब तक इन सब को अनन्त परिमाण में नहीं पाते तब तक कभी तृप्त नहीं हो सकते हैं; किन्तु पृथ्वी स्वयम् एक सीमित सत्ता है, अतएव इसपर की सभी सृष्ट पार्थिव वस्तुएँ अवश्य ही सीमित हैं। इन सब को अनन्त रूप में पाना सम्भव नहीं है अतएव पार्थिव प्राप्ति कितनी भी महान् क्यों न हो, भूमण्डल ही क्यों न हो, फिर भी वह अनन्त तथा शाश्वत नहीं है। तब वह शाश्वत सत्ता क्या है, जो मनुष्य को चिरन्तन सुख दे सकती है ?

भूमा सत्ता ही केवल अनन्त एवं शाश्वत हैं और उनकी उपलब्धि से मनुष्य की अनन्त क्षुधा की आत्यन्तिकी निवृत्ति सम्भव है । नश्वर पार्थिव मान, ऐश्वर्य, शक्ति, प्रभाव आदि ने मनुष्य को इस स्थिर सिद्धान्त पर ला दिया है कि सान्त सीमित पृथ्वी की किसी भी वस्तु से अनन्त सुख पाने की चिरन्तन स्पृहा की तृप्ति सदा के लिए नहीं हो सकती है । यह सम्भव है केवल उस विभुसत्ता ब्रह्म की उपलब्धि से ही वास्तव में मनुष्य की अनन्त भोगवासना के पीछे ब्रह्मोपलब्धि की ही इच्छा प्रच्छन्न भाव से रहती है । अतः ब्रह्मोपलब्धि ही मनुष्य का धर्म है और जीवमात्र का यही स्वभाव है ।

'धर्म' शब्द का अर्थ है सत्तागत विशेषता या गुण । इसका अंग्रेजी प्रतिशब्द है characteristic or

property or nature I अग्नि का धर्म या स्वभाव है जलाना। अग्नि और उसका धर्म यह दोनों जिस प्रकार अलग नहीं हो सकते हैं, मनुष्य और उसका धर्म ब्रह्मोपलब्धि की इच्छा भी ठीक उसी प्रकार की है ।

मनुष्य में चैतन्य के विकाश के साथ-साथ पशुत्व की भी भावना है। सृष्टि के क्रमविकाश की धारा में पशु जीवन से मानव जीवन का विकाश हुआ है, इसलिए मानव जीवन में वृत्ति की द्विमुखी गति दिखाई। देती है। जड़ाभिमुखी गति उसकी पशुत्व की ओर खींच कर ले जाती है और इसके विपरीत सूक्ष्म की ओर की गति उसको पशुत्व से मुक्त करती है पशु जीवन में पशुत्व का व्यापक विकाश दिखाई देता है और मानव जीवन में चैतन्य का अधिकाधिक विकाश होने के कारण विचार और विवेचना का भी महत्त्व परिलक्षित होता है । पशुत्व की प्रबलता के कारण

आहार-पान प्रभृति जिन स्थूल भोगों की ओर आकृष्ट होता है वे सब कभी भी उनकी अनन्त क्षुधा की निवृत्ति नहीं कर सकते हैं। पशुओं की भोगवृत्ति अनन्त नहीं होने के कारण उनकी परितृप्ति इन सीमित भोग्य वस्तुओं से होती है। भोग्य वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में होने पर भी पशु उन्हें अपनी आवश्यकता से अधिक नहीं ग्रहण करता है, किन्तु वैसी ही अवस्था में मनुष्य निश्चय ही उसी प्रकार का व्यवहार नहीं करता। इससे यही साबित होता है कि पशु की भोगलालसा सीमित है किन्तु मनुष्य की अनन्त, यद्यपि दोनों ही क्षेत्र में पशुत्व को केन्द्र बना कर ही भोगाभिमुखी गति अभिव्यक्त होती है। मनुष्य का विकसित चैतन्य ही इन दोनों में यह विभेद सृष्ट करता है। इस विकसित चैतन्य के कारण अनन्त सुख पाने की अनन्त भूख नश्वर सीमित पार्थिव सुख-

ऐश्वर्य- शक्ति-प्रभाव आदि से नहीं मिटती वरन् उसको और भी अधिक ब्रह्मानन्द की ओर आकृष्ट करती रहती है ।

मनुष्य के पशुत्व और विवेक के बीच सदा संघर्ष चल रहा है पशुत्व उसको जागतिक भोगों की ओर उत्साहित करता है और अतृप्त तथा जाग्रत विवेक उसकी ब्रह्माभिमुखी गति का अन्त नहीं होने देता है। शक्ति, प्रभाव आदि के द्वारा अर्जित भोग सामग्रियाँ यदि असीम और अनन्त होती तो वे अवश्य ही आनन्द चाहने वाले विवेक की अनन्त क्षुधा को तृप्त कर सकतीं । किन्तु वे असीम अनन्त नहीं हैं और इसी कारण नश्वर पार्थिव भोगों की चरम मर्यादा भी मनुष्य के मन को शाश्वत शान्ति प्रदान कर उसको भूमानन्द में अधिष्ठित नहीं कर पाती हैं ।

चैतन्य का व्यापक विकाश ही मनुष्य और पशु में भेद बताता है। तो क्या इस चैतन्य का सद्व्यवहार मनुष्य का एक मात्र कर्त्तव्य नहीं है ? उसका चैतन्य या विवेक यदि पशुत्व में ही लीन रह जाय तो अवश्य ही उसका आचरण पशु के समान हो जायेगा। वास्तव में वह पशु से भी अधम है क्योंकि चैतन्य का व्यापक विकाश पाकर भी वह इस सुयोग से लाभ नहीं उठाता । इस प्रकार का मनुष्य निश्चय ही मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे सभी व्यक्ति मानव शरीर में पशु हैं ।

चैतन्य का धर्म ही है अखण्ड सत्ता ब्रह्म को पाने की चेष्टा करना । विकशित चैतन्य की प्रेरणा को कार्यान्वित कर जो मनुष्य नाम को सार्थक बनाते हैं वे देखेंगे कि उन सबों का लक्ष्य अवश्य ही एकमात्र

अद्‌वितीय अनन्त ब्रह्म हैं । ब्रह्मोपलब्धि की यह एषणा ही मनुष्य की सत्तगत विशेषता, गुण या धर्म है।

इच्छा की परिपूर्ति ही आनन्द है। इच्छित वस्तु नहीं मिलने पर मनुष्य का मन दुःख से भर जाता है । विकशित चैतन्य ही मनुष्य को पशुता से मुक्त करता है और ब्रह्मोपलब्धि के मार्ग का अनुशीलन कराता है । इसीलिए ब्रह्मोपलब्धि से या ब्रह्मोपलब्धि की चेष्टा में संलग्न होने से ही मनुष्य यथार्थ आनन्द पाता है । इससे हमलोग इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अनन्त या ब्रह्म की उपलब्धि करना ही हुआ विश्वमतवाद या मानव धर्म । केवल इसी धर्म के अनुशीलन से ही मनुष्य शाश्वत सुख या परमा शान्ति पा सकता है ।

ब्रह्म को पाना ही जब मनुष्य की निजी विशेषता या धर्म है तब ब्रह्म हैं कि नहीं यह अवश्य देखना

चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है उसको पाने की सभी प्रचेष्टाएँ व्यर्थ होते हैं, और यदि ब्रह्म हैं तो वे क्या हैं, हमलोगों के लिए वह जानना आवश्यक है ।

आपात दृष्टि से स्थूल इन्द्रियों को ही किसी व्यक्ति के सभी कार्यों का कर्त्ता समझते हैं इन्द्रियसमूह की संख्या दस है। व्यक्ति विशेष के सभी कार्यों का ये सब कर्त्ता के रूप में देखे जाने पर वास्तव में ये सब कर्त्ता नहीं हैं मन के निष्क्रिय होने पर इन्द्रियाँ स्वयम् कोई काम नहीं कर सकती हैं ।

मन ही कर्म करता है, इन्द्रियाँ केवल उसके माध्यम हैं। इन्द्रियों के माध्यम से मन में उद्भूत कर्म का वाह्य प्रकटीकरण होता है । उदाहरण स्वरूप, पुस्तक पढ़ने का काम चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से मन ही करता है।

मन की निष्क्रिय अवस्था में चक्षु इन्द्रिय देख नहीं पाती है, जैसे चेतनाहीन अवस्था में चक्षु के उन्मुक्त तथा अविकृत रहने पर भी मन से असंलग्न होने के कारण उसका स्वाभाविक कार्य बन्द हो जाता है । इसी कारण अचेतन करने वाले औषध के प्रभाव से अंग-प्रत्यंग या इन्द्रियसमूह पूर्ण रूप से अविकृत रहने पर भी निष्क्रिय रहता है प्रायः | यह देखा जाता है कि किसी विशेष भाव से आविष्ट होने पर हम लोग सामने के व्यक्ति को नहीं पहचान पाते हैं या अपने मित्र को भी पहचानने में विलम्ब करते हैं। इसका एकमात्र कारण है कर्म का यथार्थ कर्त्ता मन की निष्क्रियता तथा उसका माध्यम इन्द्रिय की अनवधानता यानी बेख्याल होना ।

अब यह देखा जाए कि कर्म का यथार्थ कर्त्ता मन इन्द्रियों के | माध्यम से किस प्रकार कार्य करता है। पुस्तक देखने का काम इन्द्रिय के माध्यम से मन ही का एक विशेष कार्य है। पुस्तक देखने के समय मन आँख की सहायता से पुस्तक रूप वस्तु की आकृति धारण करता है। चक्षु पट पर अंकित प्रतिच्छबि से मन के द्वारा गृहीत यह आकृति एक भिन्न वस्तु है क्योंकि मन आँख बन्द कर लेने पर भी इच्छा करने से ही पुस्तक का आकार धारण कर सकता है किन्तु मन के निष्क्रिय होने पर चक्षु काम नहीं करता है, निष्क्रिय हो जाता है । अतएव, पुस्तक देखने के समय मन का ही एक अंश पुस्तक का रूप धारण करता है। और मन के उस अंश को चित्त कहते हैं। चित्त के पुस्तक का आकार धारण करने पर भी देखने का काम चित्त के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता करती है । मन का जो

अंश यह देखने का काम करता है उसको अहंतत्त्व कहा जाता है किन्तु "मैं" का अस्तित्त्व नहीं रहने पर "मैं" किसी काम का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? इसलिए चित्त और अहंतत्त्व के अतिरिक्त एक सत्ता है, यह अवश्य ही मानना पड़ेगा । "मैं" का अस्तित्व प्रमाणित करने वाला यह तीसरा अंश महत्ततत्त्व के नाम से परिचित है । अस्तित्व बोध या आत्म बोध नहीं रहने पर कोई भी काम नहीं हो सकता है, और महत्ततत्त्व ही यह बोध उत्पन्न करता है । इन अंशों का ही सामूहिक नाम मन या अन्तःकरण है, और एक-एक अंश मन के एक-एक भाव की केवल अभियक्ति है। इस मन के ही द्वारा देखने का काम होता है जिसको रूप तन्मात्र का मन में रूपान्तरित होना कहा जा सकता है ।

'तत्मात्र'- एक नया शब्द व्यवहार में आया है, इसलिए इसके विषय में कुछ कहना आवश्यक है । इन्द्रिय के माध्यम से स्थूल वस्तु का सूक्ष्मतम रूप को मानस पट पर ग्रहण करना ही तन्मात्र कहलाता है। और भी विशद रूप से समझाने के लिए कह सकते हैं कि चक्षु इन्द्रिय की सहायता से वस्तु के दर्शन काल में रूप तन्मात्र (भावग्राही चाक्षुषी नाड़ी के स्पन्दन-संजात वस्तु के सूक्ष्म रूप का धारण) के माध्यम से ही मानसपट पर वस्तु का रूप गृहीत होता है, किन्तु आँख बन्द रहने पर तथा अन्धकार में स्पर्श के द्वारा भी मनुष्य वस्तु का अनुभव करता है । इस क्षेत्र में स्पर्श तन्मात्र नाम का एक दूसरे तन्मात्र के सहारे वस्तु का बोध हुआ फिर दर्शन तथा स्पर्श की सीमा से बाहर होने पर भी वस्तु का बोध प्रत्यभिज्ञ द्वारा होना सम्भव है। अहंतत्त्व की इच्छा के अनुसार ही चित्त

तन्मात्र की रूप धारण करता है दर्शनक्रिया तथा वस्तु का निरूपण अहंतत्त्व पर ही निर्भरशील है क्योंकि चित्त स्वयम् कोई क्रिया नहीं कर सकता है ।

अहंतत्त्व या मन के क्रियाशील अंश के वस्तु दर्शन की इच्छा से चित्त दृष्टि-स्नायु के सान्निध्य लाभ करता है–आँख वस्तु का रूप तन्मात्र ग्रहण करती हैं। चारों ओर की वस्तुओं से सदा तन्मात्र प्रवाहित होता है और यह तन्मात्र का तरंग चक्षु के माध्यम से चित्त में धक्का देता है इस संघर्ष के फलस्वरूप चित्त वस्तु का रूप धारण करता है और अहंतत्त्व उसको देखता है इसी प्रकार अहंतत्त्व जब कुछ सुनना चाहता है तो चित्त को कर्णेन्द्रिय का सान्निध्य लाभ करने को प्रेरित करता है और श्रवणेन्द्रिय स्थूल वस्तुओं से शब्द तरंग के माध्यम से शब्द तन्मात्र ग्रहण कर लेती है । तन्मात्र पर एकाग्र होने से चित्त स्वयम् शब्द में

रूपान्तरित होता है, और अहंतत्त्व वही शब्द सुनता है। अर्थात् अहंतत्त्व जो चाहता है या करता है चित्त वही रूप धारण करता है । इसीलिए अहंतत्त्व द्वारा किये गये सभी कार्यों का अभिप्रकाश चित्त पर निर्भरशील है।

पहले ही कहा जा चुका है कि चित्त, अहंतत्त्व और महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व का सामूहिक रूप ही मन है । अहंतत्त्व के निर्देश से चित्त वस्तु का भाव लेता है और अहंतत्त्व केवल काम करता जाता है । 'मैं हूँ' बोध मानसभूमि के चेतनापूर्ण महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व से उद्भूत होकर अहंतत्त्व और चित्त को कार्यान्वित करता है । अहंतत्त्व के प्रभाव से चित्त के वस्तु का रूप धारण करने पर भी अस्तित्व-बोध करानेवाला 'मैं' के अभाव में वस्तु की अनुभूति नहीं होती है । मन के

भीतर अस्तित्व बोध कराने वाले 'मैं' है के पीछे 'ज्ञाता', 'द्रष्टा' या 'अधिकारी मैं' के रूप में जो 'मन से परे मैं', वही सब कर्मों का प्रकृत कर्त्ता है और मन का अस्तित्व भी उसी पर निर्भरशील है। मन के इसी द्रष्टा 'मैं' को अणुचैतन्य या आत्मा कहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म रूप से विचार करने पर हमलोग इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अणुचैतन्य और मन ये दो पृथक सत्ताएँ हैं ।

यह आत्मा और मन दो पृथक सत्ताएँ होन पर भी ये दोनों एक दूसरे के साथ जुटे हुए हैं। मन का क्रियान्वित मैं' तथा तन्मात्र के माध्यम से वस्तु का रूप धारण करने वाला 'चैत्तिक मैं' 'अस्तित्वबोधक 'मैं' की उपस्थिति का सापेक्ष है । अस्तित्वबोध कराने वाला 'मैं' के साक्षीसत्ता को आत्मा या अणुचैतन्य कहा जाता

है। जो 'मैं' अस्तिबोध कराता है तथा आत्मा की उपस्थिति प्रमाणित कराता है वह महत्तत्त्व, जो मैं कार्य करता है वह अहंतत्त्व, और जो 'मैं' या मन का जो अंश वस्तु का रूप धारण करता है वह चित्त है । अर्थात् एक ही 'मैं' विभिन्न स्तरों पर गुणबन्धन भेद से भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है । अब यह बताना आवश्यक है कि एक ही 'मैं' किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में कार्य करता है । 'मैं हूँ' कहने पर 'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ' साक्षीस्वरूप एक सत्ता की उपस्थिति प्रथम ही स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु यह 'मैं हूँ' का 'मैं' आत्मा से भिन्न सत्ता है क्योंकि यह 'मैं' आत्मा की उपस्थिति सिद्ध करता है । इसलिए महत्तात्त्विक बोध उत्पन्न होने के लिए चैतन्य की उपस्थिति स्वीकार करनी होगी अर्थात् आत्मा में महत्तत्त्व उसी भाव से नहीं रह सकता है ।

किन्तु साक्षी सत्ता तथा विकशित 'मैंपन का बोध' उस एक 'मैं' का ही कार्य के रूप के अनुसार भेदमात्र है । वास्तव में साक्षी सत्ता चैतन्य स्वरूप 'मै' ही स्वयम् की 'मैं हूँ' के 'मैं' में या महत्तात्त्विक 'मैं' में अभिव्यक्त कर अपना अस्तित्व सिद्ध करता है, अर्थात् अणुचैतन्य ही दूसरी अवस्था में महत्ततत्त्व के नाम से पुकारा जाता है । इस तरह देखा जाता है कि अणुचैतन्य भिन्न-भिन्न रूप से कार्य करने के गुण से गुणान्वित है । यह गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि तब तो अणुचैतन्य को महत्ततत्त्व में अभिव्यक्त नहीं होना पड़ता । अतएव आत्मा में चैतन्य और उसका गुण ये दो पृथक सत्ताएँ हैं । इसके अतिरिक्त गुणबन्धन के कारणस्वरूप अवश्य ही कोई दूसरी सत्ता का अस्तित्व है । गुणबन्धन के द्वारा आत्मा की स्थूल अभिव्यक्ति

जिस सत्ता के कारण होती है उसी को 'प्रकृति' कहते हैं, अर्थात् प्रकृति के प्रभाव से आत्मा महत्तत्त्व में अभिव्यक्त होती है ।

'प्रकृति' क्या है ? प्राकृत सत्ताओं के समूह की नियामक सत्ता हो प्रकृति है प्रकृति स्वभाव या गुण नहीं है । उदाहरण स्वरूप, दाहिका शक्ति को अग्नि का स्वभाव, गुण या उसकी निजी विशेषता कहते हैं, किन्तु अग्नि को इस गुण से गुणान्वित करने वाली कोई दूसरी सत्ता अवश्य ही है । इसी प्रकार आत्मा भी किसी दूसरी सत्ता से गुणान्वित होती है आत्मा या अणुचैतन्य को गुणान्वित करने वाली यह सत्ता ही प्रकृति है–अभिव्यक्त गुण प्रकृति नहीं है। 'प्रकृति' एक संस्कृत शब्द है; प्र-कृ + क्तिन् = प्रकृति, जिसका अर्थ है विशेष रूप से प्रकार भेद सृष्टि करना प्रकृति के

द्वारा गुणान्वित होने पर ही अणुचैतन्य का अस्तित्व सिद्ध होता है, अर्थात् प्रकृति स्वरूप की उपलब्धि के लिए ही दूसरे को गुणान्वित करती है । इसलिए वह एक क्रियाशीला शक्ति विशेष है । इस प्रकृति के प्रभाव से ही आत्मा भिन्न-भिन्न कार्य करने वाला रूप धारण करता है।

प्रकृति एक शक्ति विशेष है। अब यह प्रश्न उठता है कि वह किसकी शक्ति है। प्रकृति आत्मिक शक्ति है और आत्मिक प्रभाव से ही वह प्रभावित तथा गुणान्वित होती है। आत्मिक सत्ता में ही प्रकृति की अवस्थिति है । वास्तव में अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान ही इन दोनों का सम्पर्क अविभाज्य है। वस्तु विशेष की अपनी विशेषता जिस क्रियाशीला शक्ति के प्रभाव पर निर्भरशील है उस शक्ति के अभाव

में वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध होता है । इसलिए प्रकृति के अभाव में अणुचैतन्य की अस्तित्व भी नहीं देखी जाती है ।

गुणान्वित होने से “मैं हूँ" बोध उत्पन्न होते ही साक्षीसत्ता अणुचैतन्य में अस्तित्त्व-बोध जाग उठता है। जिस गुण से गुणान्वित कर प्रकृति अणुचैतन्य में अस्तित्त्व बोध जगाती है उसे सत्त्वगुण कहते हैं, और इसके फलस्वरूप मन का जो अंश सृष्ट होता है उसे महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व कहते हैं अर्थात सत्त्व गुण के प्रभाव से ही अणुचैतन्य अपने भीतर बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व को सृष्ट करता है ।

सभी कार्य अस्तित्त्व-सापेक्ष हैं, यानी अस्तित्व पर निर्भरशील हैं। 'मैं' का अस्तित्व नहीं रहने पर 'मैं' कुछ नहीं कर सकता है। यहाँ पर 'मैं' का द्विविध मैं तथा परस्पर-सापेक्ष रूप देखा जाता है । प्रथमतः साक्षीसत्ता चैतन्य "मैं हूँ" बोध जगाकर अपना अस्तित्व सिद्ध करता है और विकशित “मैं” कार्य करता है। "मैं हूँ” का “मैं” या बुद्धितत्त्व कार्य सम्पादन के समय अस्तित्त्व प्रमाणित करने के अतिरिक्त काम करने का भी भार ग्रहण करता है। इसी प्रकार बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के प्रभाव के फलस्वरूप कार्य करने का गुण सृष्ट होता है । बुद्धितत्त्व अणुचैतन्य का ही स्थूल विकाश है, और अणुचैतन्य की अपनी विशेषता या गुण अर्थात् प्रकृति अपने रूपान्तरित विकाश बुद्धितत्त्व में भी अभिन रूप से ही रहती है । जिस गुणबन्धन के द्वारा बुद्धितत्त्व प्रभावित होता है उसे रजोगुण कहते हैं

। इस प्रकार बुद्धितत्त्व प्रकृति द्वारा प्रभावित होकर, दोनों प्रकार का कार्य करने वाला रूप ग्रहण करता है। रजोगुण द्वारा सृष्ट कार्य करने का गुण या शक्ति विशेष अहंतत्त्व कहलाता है ।अर्थात् प्रकृति के रजोगुणी बन्धन के कारण बुद्धितत्त्व स्वयम् अहंतत्त्व में विकशित करता है । को

प्रत्येक कर्म का फल अवश्य ही होगा। उदाहरण स्वरूप, पुस्तक दर्शन के समय देखने की क्रिया का परिणाम हुआ दृष्ट पुस्तक । देखने का काम किस प्रकार होता है यह पहले ही बताया जा चुका है। मन का ही स्थूलतम अंश चित्त तन्मात्र के सहारे वस्तु का रूप धारण करता है और अहंतत्त्व उसको देखता है । अहंतत्त्व के इच्छानुसार भी चित्त वस्तु के रूप में परिणत हो सकता है । अहंतत्त्व जिस समय पुस्तक

देखता है चित्त उस समय पुस्तक ही बन जाता है और अहंतत्त्व जब शब्द सुनता है उस समय चित्त शब्द स्वरूप ही हो जाता है। ऐसा होने का कारण यह है कि चित्त धातु की संरचना पूर्णरूप से अहंतत्त्व की इच्छा पर ही निर्भरशील है । इसीलिए चित्त और अहंतत्त्व का सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ है । यह चित्त धातु किस प्रकार सृष्ट होती है, बताना आवश्यक है । चित्त मन का ही एक अंश विशेष है, मन का दूसरा दो अंश क्रमशः अहंत्तत्त्व तथा महत्तत्त्व हैं । प्रकृति के सत्त्वगुणी प्रभाव से अणुचैतन्य महत्तत्त्व में और प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव से महत्तत्त्व अहंतत्त्व में अभिव्यक्त होता है। और भी स्पष्ट करने के लिए कहेंगे कि मौलिक सत्ता अणुचैतन्य ही ने प्रकृति के प्रभाव से स्थूलत्व प्राप्त करने के द्वितीय क्रम पर्याय में स्वयम् को अहंतत्त्व में रूपान्तरित किया है । .

इसलिए अहंतत्त्व में भी प्रकृति रहती है और उसको गुणान्वित करती है। वास्तव है कि अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के प्रभाव के फलस्वरूप ही चित्त की सृष्टि होती है जिस गुण के द्वारा अहंतत्त्व गुणान्वित होता है उसको तमोगुण कहते हैं। इस तमोगुणी प्रभाव के ही कारण अहंतत्त्व अपने कर्म के फल का रूप ग्रहण कर चित्त नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार अणुचैतन्य ही क्रमशः अपने को चित्त में विकशित करता है ।

अतएव प्रकृति के गुणबन्धन द्वारा सृष्ट मन का अस्तित्व अणुचैतन्य की उपस्थिति पर निर्भरशील है। वास्तव में आत्मा या अणुचैतन्य की अनुपस्थिति में मन की सृष्टि नहीं हो सकती है। किन्तु प्रत्येक व्यष्टि सत्ता में हमलोग मन का विकाश देखते हैं, इसलिए प्रत्येक व्यष्टि सत्ता मे अणुचैतन्य की उपस्थिति

माननी पड़ेगी । इस विश्व में असंख्य व्यष्टि मन का प्रतिफलन देख कर मालूम पड़ता है कि आत्मा अनेक है। इन सभी आत्माओं का सामूहिक नाम ही परमात्मा, भूमाचैतन्य या भगवान है । जिस प्रकार १२ को एक दर्जन, २० को एक बीस और बहुसंख्यक सेना को सैन्यदल कहते उसी प्रकार अणुचैतन्य का सामूहिक नाम ही परमात्मा, भूमाचैतन्य, ब्रह्म या भगवान है। इसलिए एक हस्त-पदयुक्त शक्तिशाली मनुष्य के रूप में भगवान की कल्पना भूल है। अंग्रेजी में 'आत्मा' शब्द का प्रतिशब्द नहीं है, किन्तु निकटतम शब्द के रूप में soul शब्द का व्यवहार किया जा सकता है इसलिए भगवान का अर्थ भूमाचैतन्य या universal soul ही होगा। अतएव भगवान हैं और वे हैं परमात्मा, भूमाचैतन्य, ब्रह्म या आनन्दस्वरूप ।

सूचीपत्र

विभु सत्ता क्या है ?

युक्ति-तर्क द्वारा हमलोग इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म हैं और वे हैं परमात्मा या भूमाचैतन्य या चैतन्य का सामूहिक रूप विशेष । भूमाचैतन्य या सामूहिक चैतन्य को चितिशक्ति या पुरुष भी कहते हैं । प्रकृति पुरुष या चैतन्य की शक्ति विशेष है जो पुरुष के ऊपर गुण का बन्धन डालती है। अग्नि और उसकी

दाहिका शक्ति के समान पुरुष और प्रकृति भी अविच्छेद्य है । जहाँ प्रकृति है वहाँ पुरुष भी अवश्य ही हैं और इनका सामवायिक नाम ही है ब्रह्म ।

पुरुष हैं ज्ञान या चैतन्य सत्ता । ज्ञान या चैतन्य कहने से हमलोग किसी एक का अस्तित्व अवश्य ही समझते हैं, किन्तु उसके आकार या रूप की कोई धारणा नहीं ले पातें हैं । भावना के द्वारा ही हमलोग पुरुष की धारणा ले पाते हैं अतएव पुरुष या चैतन्य एक अव्यक्त अवस्तु सत्ता है जो केवल मन में ही अनुभूत होकर रहता है.। इस अव्यक्त पुरुष को गुणान्वित करने वाली सत्ता प्रकृति की भी अनुभूति केवल बोधक्रि के द्वारा ही होती है शक्ति, गुण या विशेषता- ये सभी जड़त अभिव्यक्ति हैं परन्तु इन सबको कभी भी देखा नहीं जा सकता है । इसके

रूपरेखा का वर्णन नहीं किया जा सकता है। जड़ वस्तु अग्नि की जड़ दाहिका शक्ति को देख नहीं पाते हैं, अर्थात् वस्तु की निजी विशेषता कितना भी जड़ क्यों न हो, वह सर्वदा सूक्ष्म ही रह जाती है पुरुष और उनकी अपनी विशेषता प्रकृति-इन दोनों सूक्ष्म सत्ताओं का सामवायिक रूप ब्रह्म भी सूक्ष्म हैं, इसलिए उनकी अनुभूति केवल बौद्धिक संश्लेषण के चरम स्तर पर ही हो सकती है। अतएव ब्रह्म का कोई आकार या रूप नहीं है, वे एक निराकार तथा वाक्य और मन से अगोचर सत्ता हैं ।

पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मा या अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्त्वगुणी प्रभाव के फलस्वरूप बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव के फलस्वरूप अहंतत्त्व, और अहंतत्त्व के ऊपर

प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव के फलस्वरूप चित्त की सृष्टि होती है । इस कारण अहंतत्त्व या प्रकृति चित्त पर निर्भरशील (चित्त का सापेक्ष) नहीं है । इसलिए चित्त के अभाव में भी ये सब अविकृत ही रहते हैं । इसी प्रकार बुद्धितत्त्व अहंतत्त्व का सापेक्ष नहीं है तथा अणुचैतन्य भी बुद्धितत्त्व की निरपेक्ष सत्ता है । दृष्टान्त के लिए कहा जा सकता है कि इस्पात से बनी कड़ाही का अस्तित्व इस्पात का सापेक्ष है किन्तु इस्पात का अस्तित्व कड़ाही का सापेक्ष नहीं है इसी प्रकार चित्त, अहंतत्त्व तथा बुद्धितत्त्व- ये सभी अणुचैतन्य के स्थूल विकाश हैं इसलिए इन सबों का अस्तित्त्व अणुचैतन्य का सापेक्ष है किन्तु अणुचैतन्य सर्व- निरपेक्ष है ।

चैतन्य या पुरुष सर्व-निरपेक्ष है, आदि-अन्त रहित एक परम बन्धनमुक्त सत्ता है प्रकृति पुरुष की निजी विशेषता या गुण है, इसीलिए इसका सम्पर्क पुरुष के साथ अविनाभावी और अपृथक्सिद्ध है । किन्तु जैसे अग्नि अपने गुण या विशेषता का स्रष्टा नहीं है, उसी प्रकार पुरुष भी अपने गुण या विशेषता प्रकृति का स्रष्टा नहीं है–यहाँ तक कि पुरुष का अपना अस्तित्वबोध भी प्रकृति के प्रभाव का सापेक्ष है। इसीलिए उनके द्वारा प्रकृति के सर्जन का प्रश्न नहीं उठता है। पुरुष के समान प्रकृति भी एक निरपेक्ष सत्ता है। इन्हीं निरपेक्ष सत्ता पुरुष तथा प्रकृति का सामवायिक नाम ब्रह्म है । अतएव ब्रह्म अवश्य ही सर्व- निरपेक्ष है, सभी बन्धनों से मुक्त एक शाश्वत सत्ता है ।

ब्रह्म का आदि नहीं है, तब क्या अन्त भी है या नहीं ? यदि है तो मापकर हमलोगों को देखना चाहिए कि ब्रह्म कितना बड़ा है । वस्तुभेद से माप का यन्त्र भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जमीन नापने के लिए सीकल, खाद्यान्न के लिए तराजू, गर्मी के लिए तापमान यन्त्र और वायु चाप के लिए वायु-चापमान यन्त्र का व्यवहार होता है । अर्थात् जो वस्तु जैसी उसके माप के लिए उसी प्रकार का यन्त्र खोज लेना पड़ता है। इसलिए सूक्ष्म सत्ता ब्रह्म के माप के लिए ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सूक्ष्म सत्ता खोजनी होगी । जागतिक वस्तु समूह को हमलोग आकाश, वायु, अग्नि, जल और क्षिति भेद से पाँच मौलिक तत्त्वों में बाँट सकते हैं ।

तन्मात्र के विचार से ही वस्तु स्थूल तथा सूक्ष्म निर्धारित होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध भेद से तन्मात्रों की संख्या कुल पाँच स्पर्श, है । आकाश तत्त्व में शब्द तन्मात्र वहन करने का सामर्थ्य है, वायु तत्त्व में है शब्द और स्पर्श, अग्नि तत्त्व में शब्द, स्पर्श और रूप, जल तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप और रस, तथा क्षिति तत्त्व में शब्द, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों तन्मात्र के वहन करने का सामर्थ्य है। अतएव तन्मात्र की उपस्थिति के कारण पाँच मौलिक तत्त्वों में कोई भी सूक्ष्म नहीं है और इसीलिए उनसे उत्पन्न स्थूल जागतिक वस्तु समूह में कोई भी वस्तु सूक्ष्म सत्ता ब्रह्म के परिमाप में उपयोगी नहीं है । जगत् में हमलोग इन स्थूल पाँच मौलिक सत्ताओं के अतिरिक्त तथा तन्मात्रों की सीमा से बाहर एक सूक्ष्म मानस सत्ता का अस्तित्त्व देख पाते हैं जो मानसभूमि

में भावना के द्वारा वस्तु का रूप धारण करने में और वस्तु की अनुभूति लाभ करने में समर्थ है। केवल मन ही अपनी भावना या अनुभूति के द्वारा ब्रह्म को माप सकता है।

अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के प्रभाव के फलस्वरूप बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त के सामवायिक रूप मन की सृष्टि होती है। मन के इन तीनों अंशों में से अहंतत्त्व ही सभी कार्य करता है, इसलिए ब्रह्म के परिमाप का कार्य भी अहंतत्त्व ही करेगा। किन्तु अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व का ही कार्य करने वाला केवल एक बदला हुआ रूप है । अणुचैतन्य के सम्पर्क में आने से पहले ही अहंतत्त्व में परिणत हो जाता है, उसकी , कार्य करने की विशेषता नष्ट हो जाती है इसलिए ऐसी अवस्था में उसके द्वारा कोई भी काम होना सम्भव

नहीं है–अणुचैतन्य का मापना तो दूर की बात है । अणुचैतन्य के समूह का सामग्रिक नाम ही ब्रह्म है । मन जब किसी विशेष अणुचैतन्य को मापने में असमर्थ है तो उसके द्वारा सामूहिक चैतन्य या ब्रह्म के परिमाप का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

परिदृश्यमान जगत् ब्रह्म का एक अंश है और मन का अस्तित्त्व इसी जगत् के भीतर है। संश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर काम करने वाला मन (अहंतत्त्व) को उसके उद्गम स्थल में वापस ले जाने पर भी हम लोग देखते हैं कि और भी कुछ शेष रह जाता है जिसका परिमाप मन के लिए सम्भव नहीं है। अतएव सृष्टि की विस्तृति मन की परिधि से बाहर है– सृष्टि अनन्त है। जब आंशिक विकाश सृष्टि अनन्त है, तो सामग्रिक सत्ता ब्रह्म अवश्य ही अनन्त हैं । ब्रह्म

स्वरूप में पुरुष और प्रकृति दोनों ही निरपेक्ष तथा सभी बन्धनों से मुक्त है प्रकृति ब्रह्म की अपनी विशेषता है, इसका काम ही है पुरुष के ऊपर गुण का बन्धन डालना । संस्कृत में 'गुण' शब्द का अर्थ होता है बाँधने की रस्सी । इसलिए प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करने के हेतु रस्सी से अपनी इच्छानुसार बाँधती है किन्तु ब्रह्म के स्वरूपावस्था में जहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों ही निरपेक्ष है, वहाँ पुरुष स्वाधीन है, इसलिए प्रकृति उनको गुणान्वित नहीं कर पाती है किन्तु, फिर भी प्रकृति वहाँ अवश्य ही रहती है । सुषुप्तावस्था में जिस प्रकार मनुष्य की कर्मशक्ति सुषुप्ता रहता है, नष्ट नहीं हो जाती, उसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूपावस्था में प्रकृति के बन्धन में शिथिलता रहने पर भी बाँधने की शक्ति पहले ही जैसी रहती है । स्वरूपावस्था में पुरुष गुणाधीन नहीं है, तो प्रकृति जिसकी निजी विशेषता है

पुरुष के ऊपर गुण का बन्धन डालना, उसके बन्धन के शिथिल होने का अवश्य ही कोई कारण है। इसका केवल दो ही कारण हो सकते हैं । प्रकृति निद्रिता है और इसलिए निष्क्रिया है अथवा पुरुष से दुर्बल है और इसलिए पुरुष के ऊपर गुण का बन्धन डालने में असमर्थ है । किन्तु, गुण का बन्धन डालने के समय निद्रिता प्रकृति को जगाने के लिए उस निर्गुणावस्था के पुरुष को छोड़कर अन्य किसी सत्ता का अस्तित्त्व ही नहीं रहता है, इसलिए प्रथमोक्त सिद्धान्त युक्ति द्वारा ग्राह्य नहीं है । प्रकृति निर्गुण ब्रह्म में भी जाग्रत एवं क्रियाशील है, किन्तु वह पुरुष की अपेक्षा कम शक्तिशालिनी है और यही एकमात्र कारण है कि वह पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। अनादि अनन्त काल से पुरुष और प्रकृति इसी भाव से चल रहे हैं । अतएव पुरुष स्वभावतः प्रकृति से अधिक शक्तिशाली है

और प्रकृति है उनकी निजी विशेषता या गुण । पुरुष की इसी स्वरूपावस्थिति को निर्गुण ब्रह्म कही जाती है । प्राकृत बन्धनमुक्त पुरुष को निर्गुण ब्रह्म या ब्रह्मस्वरूप तथा प्राकृत बन्धनयुक्त पुरुष को सगुण ब्रह्म कहते हैं । प्रश्न उठता है कि यदि निर्गुण ब्रह्म ब्रह्मस्वरूप हैं तो सगुण ब्रह्म को क्या कहा जा सकता है ? दूसरा प्रश्न उठता है कि अधिक शक्तिशाली पुरुष को प्रकृति ने किस प्रकार गुणान्वित किया या सगुण ब्रह्म की उत्पत्ति कैसे हुई ?

निर्गुण या सगुण उस एक ब्रह्म की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं । जिस प्रकार किसी व्यक्ति के निद्रित अवस्था और उसके जाग्रत अवस्था से उसका दो अस्तित्त्व नहीं होता उसी प्रकार प्राकृत

गुणबन्धनमुक्त या गुणबन्धनयुक्त पुरुष भी ब्रह्म का दो पृथक अस्तित्त्व नहीं है

अनन्त संख्यक अणुचैतन्य का सामग्रिक नाम भूमाचैतन्य, परम पुरुष या सामूहिक चैतन्य है । दोनों का ही अपना गुण या धर्म एक है किन्तु अणुचैतन्य में वह सीमित है और परमपुरुष असीम सामूहिक चैतन्य या परमपुरुष के ऊपर प्रकृति के गुणबन्धन जगत् तथा सगुण ब्रह्म का उद्भव हुआ । के पलस्वरूप ही

सगुण ब्रह्म का सापेक्ष और प्रत्यक्ष अनुभूति सिद्ध परिदृश्यमान जगत् का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है सगुण ब्रह्म में पुरुष को प्रकृति दो अवस्थाओं में गुणान्वित कर सकती है। सगुणावस्था में

प्रकृति निर्गुण की अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी है अथवा सगुण पुरुष निर्गुण से कम शक्तिशाली है। प्रकृति एक क्रियाशीला शक्ति विशेष है । विद्युत के प्रवाह के समान क्रियाभूमि में सर्वत्र उसकी कार्यकारिणी शक्ति एक ही समान है। अतएव सगुण या निर्गुण भेद से उसकी शक्ति में अन्तर पड़ने का प्रश्न हा नहा

उठता है। इसलिए पुरुष के ही सघन या * अघन

अवस्था के कारण प्रकृति का प्रभाव शिथिल या दृढ़ होता है ।

अनादि अनन्त निर्गुण ब्रह्म में प्रकृति के बन्धन की दृढ़ता के कारण सगुण का विकाश होता है । आबहवा के कारण महासमुद्र के विशेष- विशेष भाग में सृष्ट होकर बहता हुआ हिमखण्ड के समान सगुण

अवश्य ही निर्गुण के भीतर है। महासमुद्र में विस्तृत जलराशि के बचे हुए भाग का जल जिस प्रकार बर्फ से अप्रभावित तथा अविकृत रह जाता है ठोक वैसी ही सगुण के अतिरिक्त निर्गुण अविकृत ही रह जाता है । इस कारण सगुण ब्रह्म निर्गुण के ही भीतर है ।

प्रकृति के प्रभाव के अधीन पुरुष को सगुण कहा जाता है । स्वरूपावस्था में प्रकृति के प्रभाव से पुरुष मुक्त है। इसलिए सगुण ब्रह्म या गुणान्वित पुरुष ब्रह्म स्वरूप नहीं है, किन्तु तब भी पुरुष और प्रकृति की उपस्थिति के कारण वह भी ब्रह्म कहा जाता है। सगुण ब्रह्म क्या है, यह महासमुद्र में बहते हुए हिमखण्ड का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है । आबहवा के कारण महासमुद्र की जलराशि की कुछ अंश बर्फ में रूपान्तरित हो जाता है। यहाँ पर महासमुद्र की

तुलना निर्गुण ब्रह्म के साथ करने से बर्फ की तुलना सगुण ब्रह्म के साथ करेंगे बर्फ को सगुण के पुरुष तथा उसका कारण आबहवा का प्रकृति के साथ तुलना कर सकते हैं महासमुद्र की बची हुई अविकृत जलराशि निर्गुण के पुरुष के समान है । महासमुद्र के भीतर बर्फ तथा अविकृत जलराशि जल की ही केवल भिन्न-भिन्न अवस्था है। इन दोनों के बीच पार्थक्य केवल यही है कि विशेष स्थान में जलवायु जल को बर्फ में रूपान्तरित कर सकता है तथा अन्यत्र नहीं कर सकता है। बर्फ जल का ही अवस्था भेद है, फिर भी हमलोग उसको जल नहीं कह सकते हैं। उसी प्रकार सगुण ब्रह्म को हमलोग ब्रह्मस्वरूप नहीं कह सकते हैं क्योंकि सगुण ब्रह्म ब्रह्मस्वरूप का एक रूपान्तरित अवस्था विशेष है। इसलिए ब्रह्मस्वरूप को उपलब्धि के लिए हमलोगों को निर्गुण ब्रह्म को जानना होगा, केवल

विकल्पयुक्त सगुण की उपलब्धि हमलोगों को परम सत्ता की उपलब्धि प्राप्त करने में आगे नहीं बढ़ा सकती है ।

'भगवान्' क्या हैं अथवा कौन हैं ? वे क्या सगुण हैं या निर्गुण ? 'भगवान्' एक संस्कृत शब्द है। 'भग' शब्द में 'मतुप्' प्रत्यय लगाकर 'भगवान्' शब्द निष्पत्र होता है ; अर्थात् जिनका भग है वे ही भगवान् हैं। 'भग' शब्द का अर्थ है शाश्वत शक्ति, प्रेम तथा ज्योति और इसलिए 'भगवान्' का अर्थ हमलोग ज्योतिर्मय, मंगलमय तथा सर्वशक्तिमान एक सत्ता समझते हैं । इन सभी गुण-विशेषताओं के कारण भगवान् को अवश्य ही गुणान्वित या गुणयुक्त पुरुष कहा जायेगा । निर्गुणावस्था में पुरुष गुणान्वित नहीं होते हैं, सगुणावस्था में ही वे गुणान्वित होते हैं । इस प्रकार

भगवान् को निर्गुण का अवस्थाभेद विकल्पयुक्त सगुण ब्रह्म का पर्यायवाची कहते हैं, ब्रह्मस्वरूप या परमपुरुष के नाम से नहीं, और इसीलिए उनकी उपलब्धि से परम ब्रह्म की उपलब्धि नहीं होती है । ब्रह्म को जानने के लिए भगवान् से ऊपर उठकर निर्गुण की उपलब्धि करनी होगी। वे ही सबके आराध्य हैं, उन्हीं को प्राप्त करना होगा ।

---

* पुरुष क्यों अघन अवस्था में था तथा प्रकृति कब से उसको गुणान्वित करने की चेष्टा कर रही है– इस प्रकार के प्रश्न की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि कार्य-कारण का आधार व्यष्टि मन या समष्टि मन की उत्पत्ति सगुण ब्रह्म का सापेक्ष है । इसलिए ब्रह्म की सृष्टि का कारण ढूँढना मन की परिधि के बाहर है। ।

वेद में (नासदीय सूक्त में) ठीक ही कहा गया है कि ब्रह्म स्वयम् भी अपनी सृष्टि का कारण नहीं जानते हैं। ब्रह्म यदि कारणहीन नहीं होते तो निश्चय ही वे कार्य-कारण तत्त्व के भीतर आ जाते और अनादि अनन्त का विशेषण भी खो बैठते ।

सूचीपत्र

जगत् क्या है ?

अणुचैतन्य की सामग्रिकता के कारण ब्रह्म सामूहिक चैतन्य कहे जाते हैं पहले ही प्रतिपादित हो चुका है कि प्रत्येक अणुचैतन्य तथा ब्रह्म सर्वनिरपेक्ष सत्ता हैं। अणुचैतन्य की संख्या अनन्त होने पर ही उन सबों के सामग्रिक रूप ब्रह्म अनन्त हो सकते हैं।

इसलिए अणुचैतन्य की संख्या अवश्य ही अनन्त है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म किस तरह अणुचैतन्य समूह की समष्टि हुए । तब क्या ब्रह्म अनन्त संख्यक अणुचैतन्य के अस्तित्त्व का सापेक्ष है, या अणुचैतन्य समूह ही ब्रह्म का सापेक्ष है ? पहले ही कहा जा चुका है कि अणुचैतन्य एक सर्व निरपेक्ष सत्ता हैं और इसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यष्टि सत्ता में है, किन्तु मनुष्य कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, यहाँ तक कि पृथ्वी पर वह प्रथम प्राणी भी नहीं है । इतिहास इसका साक्षी है ।

सूर्य से जब पृथ्वी की सृष्टि हुई उस समय यह एक गोलाकार अग्निपिण्ड मात्र थी। धीरे-धीरे ताप घटने से जल तथा स्थल की सृष्टि हुई । तत्पश्चात् पेड़-पौधे, जीव-जन्तु ये सब हुए और सबसे अन्त में मनुष्य की

सृष्टि हुई । अतएव मनुष्य का मौलिक अस्तित्त्व पृथ्वी का सापेक्ष है, इसलिए वह एक निरपेक्ष सत्ता नहीं है। किन्तु, आत्मा की सत्ता सर्व निरपेक्ष होने के कारण वह अवश्य ही मनुष्य का सापेक्ष नहीं है– मनुष्य की सृष्टि से पूर्व ही वह उपस्थित था यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । सर्व निरपेक्ष होने के कारण केवल भूमाचैतन्य ही प्राक्पञ्चभूत (पञ्चभूत से पूर्व उपस्थित) अणुचैतन्य की उत्पत्ति का कारण- हो सकता है। मनुष्य के सृष्ट होने के बाद ही उसमें सगुण चैतन्य का प्रतिफलन हुआ ।

अणुचैतन्य भूमाचैतन्य का ही अंशविशेष है, अर्थात् सृष्टि के आदि में अनन्त संख्यक अणुचैतन्य अलग-अलग भाव से नहीं था । बह्म ने स्वयम् को ही अनन्त संख्यक अणुचैतन्य के रूप में प्रतिफलित किया

"है, इसीलिए ब्रह्म को समष्टिचैतन्य कहा गया है। इससे यह भी साबित होता है कि भूमाचैतन्य से ही मनुष्य का चैतन्य या आत्मा बना है । आदि-अन्तयुक्त सान्त सीमित पृथ्वी का सापेक्ष मानव शरीर का अस्तित्व जिस सूक्ष्म चैतन्य पर आधारित है उसकी उत्पत्ति क्षिति तत्त्व से ही हुई है, इसलिए कहना पड़ता है कि क्षिति तत्त्व में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति की प्रसुप्त सम्भावना रह गई है। उदाहरण स्वरूप, दूध में मक्खन की सम्भावना रहती है, तभी दूध से मथ कर मक्खन निकाला जाता है। उसी प्रकार क्षितितत्त्व में अणुचैतन्य की उपस्थिति नहीं रहने पर उसका सापेक्ष मानव शरीर में अणुचैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती । दूध में मक्खन है किन्तु मन्थन यन्त्र की सहायता के बिना मक्खन नहीं बनाया जा सकता है । उसी प्रकार क्षिति तत्त्व में अणुचैतन्य

की अपरिस्फुट तथा प्रसुप्त सम्भावना अभिव्यक्त होकर केवल मानवीय मन में ही प्रतिफलित और अनुभवसिद्ध होती है ।

पृथ्वी का अस्तित्त्व सूर्य का सापेक्ष है सूर्य एक ज्वलन्त वाष्पपिण्ड है, अर्थात् तैजष्मान सत्ता सूर्य वायु तत्त्व का सापेक्ष है । उसी तरह वायु तत्त्व व्योमतत्त्व का सापेक्ष है क्योंकि व्योमतत्त्व के न रहने पर स्थानाभाव के कारण वायुतत्त्व नहीं रह सकता है। अर्थात् व्योमतत्त्व से ही वायुतत्त्व, सूर्य, पृथ्वी तथा मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के भीतर हमलोग अणुचैतन्य का विकाश देखते हैं, इसलिए उसकी उत्पत्ति का आधार व्योमतत्त्व में अवश्य ही अणुचैतन्य की अभिव्यक्ति है। निराकार निराधार होने पर भी एक शब्द तन्मात्र को वहन करने के कारण यह

व्योमतत्त्व भी स्थूल पाञ्चभौतिक विकाश के भीतर है । परन्तु स्थूल कहने पर भी व्योमतत्त्व एक सीमाहीन महाशून्य है, इसमें कोई भी स्थूल अस्तित्त्व दिखाई नहीं देता है। मानवीय चैतन्य की उत्पत्ति का आधार इस व्योमतत्त्व में बर्फ में जल के समान केवल चैतन्य ही रहता है । व्योमतत्त्व के अन्तर्गत इस चैतन्य की उत्पत्ति का आधार ब्रह्म हैं । ब्रह्म से ही व्योमतत्त्व तथा जगत् की सृष्टि हुई है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी,

पृथ्वी पर के वनस्पति तथा प्राणियों के विकाश का आधार व्योमतत्त्व है । इसलिए व्योमतत्त्व तथा ब्रह्म से ही जगत् सृष्ट हुआ है । अतएव ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि के कारणीभूत सत्ता है ।

गुणान्वित पुरुष या सगुण ब्रह्म ने ही जगत् की सृष्टि की है या सगुण ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न हुआ है । किन्तु सगुण ब्रह्म ने यदि सृष्टि की रचना की है तो प्रश्न उठता है कि उपादान उन्होंने कहाँ से पाया ? कुम्भकार अपना घड़ा बनाने के लिए पृथ्वी से मिट्टी लेता है। तो क्या सगुण ब्रह्म ने भी कहीं से सृष्टि का उपादान लिया है ? यदि ऐसा है तो यह उपादान अपने उत्तराधिकारी सगुण ब्रह्म से बड़ा है और सगुण ब्रह्म से पहले से ही है, यह बात अवश्य ही माननी पड़ेगी किन्तु, पहले ही यह सिद्ध हो चुका है कि ब्रह्म एक निरपेक्ष सत्ता हैं, ब्रह्मातीत या ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य अस्तित्व के लिए गुंजाइश नहीं है जिसको जगत् की सृष्टि के लिए मौलिक उपादान के रूप में स्वीकार किया जा सके फिर परिदृश्यमान जगत् 'कुछ नहीं' से सृष्ट हुआ है, यह बात भी युक्ति द्वारा

ग्राह्य नहीं है। इसलिए यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि सगुण ब्रह्म ने अपनी देह से ही जगत् की सृष्टि की है, अर्थात् जागतिक विकाश सगुण ब्रह्म का ही स्थूल रूपान्तर है ।

तो यह कहना कि भगवान सब वस्तुओं में है क्या अयुक्तिसंगत नहीं है ? ब्रह्म एक पुस्तक में हैं, यह कहने से ही ब्रह्म और पुस्तक का पृथक पृथक अस्तित्त्व सूचित होता है, अर्थात् पुस्तक मानो सगुण ब्रह्म से पृथक कोई सत्ता है। यह एकदम गलत है क्योंकि सभी जागतिक वस्तुएँ ब्रह्म धातु से ही बनी हैं, ब्रह्म ही सभी प्रकार का रूप धारण किया अर्थात् पुस्तक और ब्रह्म ये दोनों पृथक सत्ता नहीं हैं और पुस्तक ब्रह्मातीत भी नहीं है । ब्रह्म अनादि और अनन्त हैं इसलिए ब्रह्मातीत भी कुछ नहीं हो सकता

है। अतएव परिदृश्यमान जगत् की सभी सत्ताओं का अस्तित्त्व ब्रह्म में है–जगत् का सूक्ष्म से लेकर जड़तम विकाश तक सब कुछ ही ब्रह्ममय है ।

प्रकृति के गुणबन्धन के कारण सूक्ष्म भावग्राही पुरुष सत्ता के स्थूल विकाश के क्रम में चन्द्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, वायुमण्डल तथा पृथ्वी पर फैले हुए जगत् की रचना हुई है। दूध में मक्खन के तरह यदि पुरुष ही जगत् का कारण है तो केवल एक शब्द तन्मात्र वहन करने वाला आकाशतत्त्व के समान उनको भी सूक्ष्म नहीं कह सकते हैं । किन्तु पहले ही यह साबित हो चुका है कि पुरुष सूक्ष्म है, अतएव सृष्टि के बीज का उसमें निहित रहना सम्भव नहीं है। सृष्टि का बीज उसमें नहीं होने पर उससे जगत् का सृष्ट होना एक स्वविरोधी उक्ति हो जाती है। इसलिए तर्क और युक्ति

के द्वारा मानना पड़ता है कि स्थूल जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है प्रकृति के गुणबन्धन द्वारा पुरुष के मानस स्तर में जो कल्पना तरंग उत्पन्न होती है उसी से यह विचित्र काल्पनिक जगत् सृष्ट होता है काल्पनिक सत्ता वास्तविक जगत् के जड़वस्तु का सापेक्ष नहीं है, इसलिए सूक्ष्म पुरुष अपनी देह से अनायास ही इस काल्पनिक जगत् की सृष्टि कर सकते हैं। सृष्टि को केवल एक कल्पना-तरंग मानने से निम्नलिखित दो संशयों की सम्भावना रहती है ।

(१) जगत् का यदि वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है तो हमलोगों को यह सत्य क्यों प्रतीत होता है ?

(२) पुरुष का कल्पना-तरंग के रुक जाने पर साथ ही साथ सृष्टि भी समाप्त हो जायेगी कल्पना-तरंग तथा काल्पनिक सत्ता क्षणिक है और उसके विनाश का अर्थ हुआ जगत् का प्रलय ।

कल्पना जिस समय मनुष्य के मन में किसी काल्पनिक रूप की सृष्टि करती है उस समय वह केवल काल्पनिक ही नहीं रहती । कल्पना करने वाले मनुष्य की उसकी अपनी सभी काल्पनिक सृष्टि यथार्थ प्रतीत होती है कल्पना का प्रभाव समाप्त हो जाने पर ही वह समझ पाता है। कि यह केवल एक कल्पना थी ।

अब कल्पना का विश्लेषण किया जाय और देखा जाय कि कल्पना के समय काल्पनिक वस्तु कैसे यथार्थ प्रतीत होती है। पूर्व के अध्याय में बताया गया है कि मन का जो अंश सभी कार्य सम्पन्न कराता है वह अहंतत्त्व है और जो अंश कार्य के फल में रूपान्तरित होता है। वह चित्त है । अर्थात् मनुष्य जिस समय किसी भी वस्तु की कल्पना करता है उस समय अहंतत्त्व कार्य करता है और चित्त उस वस्तु का रूप ग्रहण करता है । जैसे, भागलपुर में बैठ कर कोई कलकत्ता के चौरंगी की कल्पना करे तो उसका अहंतत्त्व चौरंगी की कल्पना करेगा और चित्त चौरंगी का रूप ग्रहण करेगा। चित्त के रूप ग्रहण करते ही अहंतत्त्व की काल्पनिक दर्शन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है ।

विषय का रूप ग्रहण करने के लिए चित्त सर्वप्रथम तन्मात्र के अनुसार विषय के मूल धातु (भूत) में रूपान्तरित होता है । उदाहरण स्वरूप, पुस्तक देखने के समय चित्त रूप तन्मात्र ग्रहण करता है, किन्तु, मन में पुस्तक का यथार्थ रूप ग्रहण होने से पूर्व चित्त को पुस्तक के मूल धातु क्षितितत्त्व के अन्तर्गत कागज में रूपान्तरित होना पड़ता है । काल्पनिक रूप किस प्रकार तैयार होता है यह जानने पर ही समझा जा सकता है कि काल्पनिक सत्ता यथार्थ क्यों प्रतीत होती है ।

चित्त के सभी कार्य इन्द्रिय के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। अहंतत्त्व के इच्छानुसार तथा इन्द्रियों के माध्यम से चित्त तन्मात्र से सम्पर्क स्थापित कर वस्तु के रूप धारण करता है। किन्तु भागलपुर में बैठकर

कलकत्ता के चौरंगी की कल्पना करना इन्द्रिय-सापेक्ष नहीं है । क्योंकि, २५० मील दूर कलकत्ता इन्द्रियों की सीमा से बाहर है और इसीलिए चित्त इन्द्रियों से दूर हट कर स्वयम् ही चौरंगी का रूप ग्रहण करता है । चित्त और इन्द्रियों का सम्पर्क टूट जाने से इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं और इस कारण मनुष्य को देश, काल तथा पात्र का सम्बन्ध और उसका पार्थक्य बोध नहीं होता। भागलपुर का कोई भी व्यक्ति एक मात्र चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ही जानता है कि वह भागलपुर में है किन्तु, चित्त यदि सभी इन्द्रियों से दूर हट कर चौरंगी का रूप ग्रहण करे तो वैसी अवस्था में चक्षु इन्द्रिय अपनी चारों ओर की वस्तुओं का तन्मात्र ग्रहण नहीं कर सकेगा । फलस्वरूप वह व्यक्ति उस मुहूर्त में भागलपुर में बैठकर भी कल्पना द्वारा चौरंगी ही देखता रहेगा । इन्द्रिय का काम करना बन्द हो जाने

पर चित्त भागलपुर का रूप धारण नहीं कर पाता और इसीलिए अहंतत्त्व भागलपुर का कोई अंग देख नहीं पाता है। वह केवल चौरंगी ही देखता है और मन में समझता है कि वह चौरंगी में ही है । चित्त स्वयं कोई कल्पना नहीं करता है, कल्पना अहंतत्त्व करता है और चित्त अहंतत्त्व की कल्पना के अनुसार वस्तु भाव को प्राप्त होता है । अहंतत्त्व की कल्पना की समाप्ति होते ही चित्त का भी काल्पनिक रूप समाप्त हो जाता है और इन्द्रिय सक्रिय हो उठती है। तब वह व्यक्ति समझता है कि इतनी देर तक वह जिस चौरंगी को देख रहा था वह काल्पनिक था इन्हीं कारणों से कल्पनाधीन व्यक्ति को काल्पनिक वस्तु यथार्थ प्रतीत होती है ।

अहंतत्त्व के इच्छानुसार चित्त तन्मात्र से परे वस्तु का काल्पनिक रूप ग्रहण कर सकता है। ऐसी वस्तु यदि वास्तविक न भी हो तो चित्त के रूप ग्रहण की क्रिया तो यथार्थ है ।

कल्पना तथा उसका वास्तविक रूप ग्रहण करने के सम्बन्ध में विवेचना की गई है। अब देखना है कि जगत् सगुण ब्रह्म की कल्पना से उत्पन्न है या नहीं । पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति के प्रभाव के कारण सगुण ब्रह्म ने अपनी देह से जगत् की रचना की है, अर्थात् मन का अस्तित्त्व पहले ही स्वीकार कर लेना पड़ता है क्योंकि मन के बिना किसी क्रिया का होना सम्भव नहीं है । प्रकृति के प्रभाव से प्रत्येक अणुचैतन्य में मन का स्फूरण होता है। उसी तरह सामूहिक चैतन्य या सगुण पुरुष में भी प्रकृति के

प्रभाव से अनन्त संख्यक व्यष्टि मन के समन्वय से सामूहिक मन या भूमा मन का स्फूरण होता है । प्रत्येक अणुचैतन्य जिस प्रकार भूमाचैतन्य का अंश है उसी प्रकार प्रत्येक अणुमन भी भूमामन का अंश है। अणुमानस का सामग्रिक रूप होने के कारण भूमामन भी बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों का समन्वय है इसलिए जगत् भूमामन का काम करने वाले अंश अहंतत्त्व से उत्पन्न चित्त है अहंतत्त्व के इच्छानुसार इन्द्रियों का तन्मात्र ग्रहण करके तथा तन्मात्र से दूर रहकर अहंतत्त्व की कल्पना-तरंग में इन दोनों उपायों से चित्त की सृष्टि हो सकती है। सगुण ब्रह्म से परे या सगुण ब्रह्म के सिवा कहीं भी कुछ भी नहीं है, इसलिए उनके चित्त से बाहर की किसी वस्तु का रूप ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिए सगुण ब्रह्म का चित्त अपने

अहंतत्त्व की कल्पना-तरंग के अनुसार रूप ग्रहण करता है । अतएव, यह जगत् सगुणब्रह्म के अहंतत्त्व के कार्य का फल या चित्त विशेष है । चित्त का इस प्रकार रूप ग्रहण करने की क्रिया को कल्पना कहते हैं इसलिए जगत् सगुण ब्रह्म की कल्पना है ।

अणुमानस की सामग्रिकता के कारण भूमामन को भी उसकी अपनी कल्पना यथार्थ प्रतीत होती है। इसीलिए भूमामन की कल्पना को उसका सापेक्ष अणुमानस एक ध्रुव सत्य के रूप में ग्रहण करता है ।

प्रायः देखा जाता है कि जादूगर खेल दिखाने के समय दर्शक मण्डली के सामने एक डोरी शून्य में फेंकता है और वह डोरी शून्य में झूलती रहती है ।

उसका सहायक अपने हाथ में एक तलवार लेकर उस डोरी को पकड़कर ऊपर चढ़ता है और अदृश्य हो जाता है। कुछ ही क्षण के बाद देखा जाता है कि उसका कटा हुआ सिर, अंग-प्रत्यंग तथा धड़ खून से लथपथ अवस्था में एक-एक कर नीचे गिरने लगता है और दर्शकमण्डली आश्चर्यचकित हो जाती है। जादूगर तब विलाप करता हुआ अपने साथी का कटा हुआ अंग-प्रत्यंग जमा कर एक थैली में भरने लगता है और दर्शकगण की सहानुभूति प्राप्त करता है । इस प्रकार करुणा से भरे हुए दर्शकों से वह चौगुणा पैसा प्राप्त करता है। इसके कुछ ही क्षण के बाद देखा जाता है कि उसका वही सहायक दर्शक मण्डली की भीड़ से निकल कर आ रहा है। दर्शकों के सामने जादूगर कैसे इस प्रकार का खेल दिखाता है ? इतने लोग अपनी आँखो से देखकर उस खेल को मिथ्या कैसे कह सकते हैं और

साथ ही साथ किसी का भी मन इसको सत्य मानने को तैयार नहीं होता है। क्या जादूगर ने अंग-प्रत्यंग कटे हुए अपने उसी सहायक को फिर से जिन्दा कर दिया है ? इस प्रकार के अस्वाभाविक काण्ड को सत्य समझने का क्या कारण हो सकता है यह विचार कर देखा जाय । सर्व प्रथम तो शून्य में एक डोरी का झूलते रहना सम्भव नहीं है और उसको पकड़कर कोई मनुष्य ऊपर नहीं जा सकता है। फिर शरीर से मस्तक तथा अन्यान्य अंग- प्रत्यंग को काटकर अलग कर देने के बाद किसी मनुष्य को पुनः जीवित कर देना सर्वथा असम्भव है। तब मनुष्य ऐसी घटना देखते कैसे हैं ? सब कोई अपनी-अपनी चक्षु इन्द्रिय की सहायता से ही देखता है। पहले ही हमलोगों ने देखा है कि दर्शन क्रिया का कर्त्ता अहंतत्त्व है और अहंतत्त्व के इच्छानुसार चित्त वस्तु का रूप ग्रहण करता है। अतएव जादूगर

यदि आध्यात्म साधना द्वारा अर्जित अलौकिक शक्ति से अपने मन का विस्तार उपस्थित दर्शकगण के अहंतत्त्व के ऊपर करे तो दर्शकों के अहंतत्त्व में काम करने की क्षमता नहीं रहेगी। जादूगर का प्रसारित मन ही तब दर्शकों का सामूहिक मन हो जायेगा । इसीलिए जादूगर का उपर्युक्त दृश्य की कल्पना करते ही जब उसका चित्त उसी भाव को प्राप्त होता है तो उपस्थित गर्शकगण जादूगर की भावना से प्रभावित होकर वही देखता है । जादूगर यदि अपनी मानसिक शक्ति का विस्तार १०० गज की परिधि में कर सकता है तो उसके प्रसारित मानसभूमि के अन्तर्गत जितने भी व्यक्ति होंगे सभी इस भावना से प्रभावित होंगे। यदि कोई उस परिधि के बाहर किसी भी स्थान से देखे तो घटना का कोई भी दृश्य नहीं देखेगा । वह केवल देखेगा कि जादूगर आँखें बन्द कर हाथ में हाथ पकड़

कर चुपचाप खड़ा है जैसे मानों कुछ कल्पना कर रहा है। जादूगर की यह कल्पना उसके प्रसारित मानसभूमि के अन्तर्गत सभी दर्शकों को सत्य प्रतीत होती है। यही यथार्थ है। इसी प्रकार योगभ्रष्ट व्यक्ति भी अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति द्वारा धूल से नाना प्रकार की मुद्रा तथा मिष्टान्न इत्यादि तैयार कर तमाशा दिखाता फिरता है। वास्तव में वहाँ न कोई मुद्रा रहती है, न ।

परिदृश्यमान जगत् सगुण ब्रह्म की कल्पना होने पर भी हमलोगों के लिए एक विराट सत्य है। जादूगर के तमाशा से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है। जादूगर के काल्पनिक दृश्य को हमलोग जैसे यथार्थ समझते हैं उसी प्रकार सगुणब्रह्म की कल्पना को भी हमलोग सत्य मानते हैं । जादूगर के विस्तारित मन

की सीमा के बाहर किसी स्थान से देखने पर कोई भी उसके द्वारा प्रदर्शित खेल नहीं देखता है, उसी प्रकार साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा जो भूमामानस के प्रभाव से बाहर चले गए हैं वे भी परिदृश्यमान जगत् के पीछे सत्यस्वरूप ब्रह्म को ही देखते हैं । भूमामन का काल्पनिक जड़ जगत् परम सत्य नहीं होने पर भी भूमामन के अधीनस्थ मनुष्य इसको समझ नहीं पाते हैं, इसकी उपलब्धि भूमामन के ऊपर उठने पर ही हो सकती है। आध्यात्म अनुशीलन द्वारा इसकी उपलब्धि ही परम सत्य की उपलब्धि है और जिन्होंने इस परम शाश्वत सत्य को जान लिया है उन्हीं को सत्यद्रष्टा ऋषि कहते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। देखा जाय उन लोगों की यह उक्ति कहाँ

तक ठीक है। जगत् सगुण ब्रह्म का एक काल्पनिक रूप है। काल्पनिक रूप सत्य न होने पर भी एक रूप है और ब्राह्मी चित्त में जगत् के रूप में ग्रहण करने की क्रिया भी मिध्या नहीं है। जगत् का जब एक रूप है तो उसको मिथ्या कहकर नहीं हटाया जा सकता है किन्तु इस रूप को ब्रह्म की कल्पना होने के कारण सत्य भी नहीं कहा जा सकता है। अतएव जगत् न सत्य है न मिथ्या, यह आपेक्षिक सत्य है ।

जगत् ब्रह्म की एक कल्पना है, इसलिए कल्पना की परिसमाप्ति के साथ ही साथ जगत् की भी परिसमाप्ति हो जाएगी। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जगत् यदि नाशवान है तो वह कब नष्ट होगा और आज तक वह नष्ट क्यों नहीं हुआ ? अघन पुरुष सत्ता के ऊपर प्रकृति के गुण विस्तार के फलस्वरूप

कल्पना-तरंग तथा जगत् की सृष्टि हुई है, अर्थात् प्रकृति ने ही जगत् की सृष्टि की है। पुरुष जिस क्षण प्रकृति के प्रभाव को काट कर निकाल सकेंगे उसी क्षण कल्पना चक्र का अन्त हो जाएगा और साथ ही साथ जगत् का भी अस्तित्त्व नष्ट हो जाएगा। गुणान्वित सगुण पुरुष ने स्वयम् को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में विभाजित किया है, इसीलिए ब्रह्म इन सब (अणुचैतन्य समूह) की समष्टि है। प्रकृति के प्रभाव से स्वयम् को मुक्त करने के लिए सगुण ब्रह्म को सर्वप्रथम अपने अणुचैतन्य समूह को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करना होगा और केवल तभी सृष्टि का लय होना सम्भव है। अनन्त संख्यक अणुचैतन्य समूह का सामूहिक रूप होने के कारण कोटि-कोटि अणुचैतन्य के मुक्त होने से भी सगुण ब्रह्म की मुक्ति नहीं होगी । उस समय भी अनन्त संख्यक मुमुक्षु अणुचैतन्य शेष

रहेगा। अनन्त से किसी भी संख्या को घटाने से शेषफल भी अनन्त ही रहेगा इसीलिए लाखों कोटि अणुचैतन्य के मुक्त होने पर भी बचे हुए अनन्त संख्यक गुणाधीन अणुचैतन्य को लेकर सगुण ब्रह्म की कल्पना तरंग उसी तरह चलती रहेगी अर्थात् जब तक प्रत्येक अणु मुक्त न हो पाएगा तब तक पुरुष की कल्पना तरंग चलती ही रहेगी और सृष्टि का भी लय नहीं होगा ।

जगत् सगुण ब्रह्म की एक काल्पनिक सृष्टि है । सगुणब्रह्म की कल्पना में इसकी सृष्टि कैसे हुई यह बताना आवश्यक है। अहंतत्त्व के इच्छानुसार चित्त के रूप ग्रहण करने पर किसी व्यक्ति को भागलपुर में ही बैठकर जिस प्रकार चौरंगी की अनुभूति मन में हो सकती है उसी प्रकार सगुण ब्रह्म के अहंतत्त्व के

निर्देशानुसार उनका चित्त परिदृश्यमान जगत् का रूप ग्रहण करता है । चित्त मन का ही एक अंश है, अतएव जगत् सगुण ब्रह्म की एक मानसिक अभिव्यक्ति है चौरंगी का रूप ग्रहण करने के समय सूक्ष्म सत्ता चित्त जिस प्रकार स्थूल चौरंगी में रूपान्तरित होता रहता है उसी प्रकार किसी भी स्थूल सत्ता का रूप ग्रहण करने के लिए चित्त को सूक्ष्म से स्थूल में परिवर्तित होना पड़ता है । यह परिवर्तन की क्रिया अकस्मात् नहीं होती है चित्त धीरे-धीरे स्थूलत्व को प्राप्त होता है। इसीलिए वह स्थूल का रूप यथार्थ भाव से ग्रहण कर पाता है। दूध से खीर बनाने के समय जिस प्रकार दूध धीरे-धीरे ही गाढ़ा होकर खीर में परिणत होता है उसी प्रकार सगुण ब्रह्म की सूक्ष्म चैतन्य सत्ता भी प्रकृति के बन्धन की दृढ़ता के कारण धीरे-धीरे जड़त्व को प्राप्त कर क्षितितत्त्व में

रूपान्तरित होती है । अतएव, सृष्टि जो चित्त का केवल रूपान्तरमात्र है वह धीरे-धीरे सूक्ष्म से स्थूल में आई है

किन्तु सृष्टि कैसे सूक्ष्म से स्थूल हुई ? सगुण ब्रह्म में प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है । फलस्वरूप, जगत् की सृष्टि होती है । अणुचैतन्य में प्रकृति के सत्त्वगुणी बन्धन से तथा बुद्धितत्त्व के स्फुरण से पुरुष में "मैं हूँ" का बोध जगता है। फिर बुद्धितत्त्व के ऊपर रजोगुणी बन्धन के कारण अहंतत्त्व, एवं अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी बन्धन से चित्त की सृष्टि होती है बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन्हीं तीन सूक्ष्म सत्ताओं से मन बना है। सूक्ष्म भावमय जगत् या सगुण ब्रह्म का मन इसी प्रकार प्रकृति के गुण बन्धन द्वारा सृष्ट होता है।

बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व तथा चित्त पुरुष या चैतन्य का क्रमशः रूपान्तर है इनमें सबसे सूक्ष्म बुद्धितत्त्व है, अहंतत्त्व उससे कम सूक्ष्म है और अहंतत्त्व का विषय भाव चित्त उससे भी कम सूक्ष्म है। बुद्धितत्त्व में केवल अस्तित्व बोध रहता है और अहंतत्त्व में इसके अतिरिक्त कर्तृत्वाभिमान भी रहता है एक से अधिक गुण की उपस्थिति के कारण अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व से स्थूल है । चित्त अहंतत्त्व के ही कार्य के फल का रूप ग्रहण करता है इसलिए अहंतत्त्व से चित्त अवश्य ही स्थूल है । अतएव हम लोग देखते हैं कि सृष्टि का क्रमविकाश सूक्ष्म से स्थूल की ओर है ।

पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् भूमामन की कल्पना है सगुण ब्रह्म के अहंतत्त्व की कल्पना के ऊपर रजोगुणी बन्धन के फलस्वरूप उसका विषयभाव चित्त स्थूल जगत् का रूप ग्रहण करता है, अर्थात् स्वरूपतः सूक्ष्म चित्त स्थूल में परिणत होता है। स्थूल की ओर विकाश के पथ में चित्त धीरे-धीरे व्योम, मरुत्, तेज, जल और क्षिति इन पाँच मौलिक तत्त्वों का रूप ग्रहण करता है। ये पाँच मौलिक तत्त्व स्थूल हैं । जगत् इन्हीं मौलिक तत्त्व समूहों से सृष्ट हुआ है। जिसके सहारे इन्द्रियाँ सूक्ष्म भाव से वस्तु को ग्रहण करती है उसी को हमलोग तन्मात्र कहते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि भेद से तन्मात्र पाँच प्रकार के हैं। सूक्ष्म स्तर में एक से अधिक तत्त्व की उपस्थिति के कारण जिस प्रकार अर्हतत्त्व बुद्धितत्त्व से स्थूल है उसी प्रकार स्थूल स्तर में जिस वस्तु में

जितना अधिक तन्मात्र है वह उतना अधिक स्थूल कहा जाता है। तन्मात्र की अनुपस्थिति का अर्थ ही हुआ चरम सूक्ष्मत्व अर्थात् सूक्ष्म की उपलब्धि में तन्मात्र हमलोगों को कोई सहायता नहीं दे सकता है क्योंकि वहाँ तो तन्मात्र का कोई स्थान ही नहीं है । एकमात्र भावना द्वारा ही अर्थात् विषय में लीन मन को स्वरूप में ले जाने की क्रिया उपलब्धि हो सकती है । चित्त जड़ जगत् का रूप ग्रहण करता है, इसलिए चित्त में अवश्य ही तन्मात्र है और यह तन्मात्र में रूपान्तरित भी होता है क्योंकि दूसरे किसी माध्यम से इसको तन्मात्र ग्रहण करने का उपाय नहीं है । अतएव चित्त से ही क्रमशः पञ्चतान्मात्रिक और पाञ्चभौतिक जगत् का विकाश हुआ है ग्रह, नक्षत्र आदि से भरा हुआ सीमाहीन शून्य ही व्योम तत्त्व या आकाश तत्त्व कहा जाता है। इस शून्य को एक "कुछ नहीं" कहा जाने पर

भी केवल एक तन्मात्र शब्द की उपस्थिति के कारण हमलोग स्थूल कहते हैं वैज्ञानिक लोग इसे ईथर कहते हैं । शून्य या ईथर की कोई आकृति नहीं है, इसका कुछ वजन भी नहीं है, किन्तु इसमें शब्द तन्मात्र आ जा सकता है इसलिए अवश्य ही इसके भीतर ऐसा कुछ है जिसका सहारा लेकर तन्मात्र का आना-जाना सम्भव है । इसीलिए ईथर को भी हमलोग स्थूल कहते हैं । किन्तु, स्थूलों में यह सबसे सूक्ष्म है क्योंकि इसमें केवल एक ही तन्मात्र है। अतएव जागतिक विकाश के प्रथम स्तर में शब्द तन्मात्र तथा आकाश तत्त्व की रचना हुई थी ।

चित्त ने आकाश तत्त्व में रूपान्तरित होने के बाद स्वयम् को वायुतत्त्व में रूपान्तरित किया जो शब्द और स्पर्श तन्मात्र से युक्त अधिक स्थूल है । शब्द

तन्मात्र को वायु एक स्थान से दूसरे स्थान तक ढोकर ले जाता है और वायु की उपस्थिति हमलोग स्पर्श के द्वारा भी समझ पाते हैं । अतएव वायु तत्त्व में हमलोग शब्द और इन दोनों तन्मात्रों को पाते हैं । इसलिए वायु तत्त्व आकाश तत्त्व (जिसमें केवल शब्द तन्मात्र है) से अवश्य ही स्थूल है ।

स्थूल की दिशा की विकाशधारा में क्रमशः वायुतत्त्व के बाद चित्त तेजस्तत्त्व में रूपान्तरित हुआ । अग्नि में शब्द और स्पर्श तन्मात्र के अतिरिक्त रूप तन्मात्र के विचार से तेजस्तत्त्व वायुतत्त्व से भी स्थूल है।

तेजस्तत्त्व के पश्चात चित्त अधिक स्थूल बनकर जलतत्त्व में रूपान्तरित हुआ है । जल तरल पदार्थ है,

इसमें एक स्वाद है। जल में हमलोग शब्द सुन पाते हैं, जल को स्पर्श कर सकते हैं, देख सकते हैं और इसमें रस तन्मात्र भी पाते हैं। अतएव इन तन्मात्रों की उपस्थिति के कारण जलतत्त्व तेजस्तत्त्व से भी स्थूल है ।

और भी अधिक स्थूलत्त्व प्राप्त कर चित्त क्षितितत्त्व में रूपान्तरित हुआ । क्षितितत्त्व या पृथ्वीतत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस के अतिरिक्त गन्ध तन्मात्र भी है क्षितितत्त्व के अन्तर्गत टेलीफोन के तार द्वारा शब्द तन्मात्र का अतिक्रमण होता है, क्षिति को हमलोग स्पर्श कर सकते हैं, देख पाते हैं, इसमें एक स्वाद पाते हैं, इसके अलावे इससे एक गन्ध भी पाते हैं । अतएव पञ्चतन्मात्र युक्त यह क्षितितत्त्व या क्षितिभूत ही चित्त की जड़तम अभिव्यक्ति हुई ।

सगुण ब्रह्म की इच्छा के कारण उनके अहंतत्त्व की कल्पनाधारा में चित्त ने धीरे-धीरे सूक्ष्म से जड़तम विकाश यानी क्षितितत्त्व का रूप ग्रहण किया है ।

प्रकृति के चरम बन्धन के फलस्वरूप सूक्ष्म सत्ता चैतन्य जड़ क्षितितत्त्व में रूपान्तरित होकर अवश्य ही स्थूलता की चरम सीमा को प्राप्त हुआ है पुरुष या भूमाचैतन्य के ऊपर चरम गुणबन्धन का विस्तार करने के बाद प्रकृति बन्धनी शक्ति से रहित हो जाती है, इसीलिए पुरुष को वह और अधिक जड़ता की दिशा में नहीं ले जा पाती है। इस प्रकार क्षितितत्त्व में आकर प्रकृति और पुरुष दोनों ही जड़ हो जाते हैं। पुरुष और अधिक स्थूल नहीं हो सकता तथा प्रकृति भी उसे और

अधिक स्थूल की दिशा में ले जाने में सामर्थ्यहीन हो जाती है। यहाँ प्रश्न होता है कि पुरुष और प्रकृति का जड़ता के चरम बिन्दु में परिणत होना ही क्या सृष्टि का अन्त है ? किन्तु पेड़-पत्ता-पतंग-पशु-पक्षी प्रभृति चेतन जीवों को देखकर यह प्रश्न भी उठता है कि जागतिक विकाश के क्रम में तो इनका स्थान कहीं भी नहीं दिखाई देता है। इन सबकी उत्पत्ति तब हुई कैसे?

गुणबन्धन की दृढ़ता तथा शिथिलता द्वारा ही पुरुष की जड़त्व तथा सूक्ष्मत्त्व निर्धारित होता है । इसी कारण हमलोग देखते हैं कि क्षितितत्त्व में, गुणबन्धन की चरमावस्था में, सूक्ष्म पुरुष निष्प्राण जड़ रूप में परिणत होता है किन्तु क्षितितत्त्व के परवर्ती स्तर में पेड़-पत्ता, जीव- जन्तु समूह को पाञ्चभौतिक विकाश होते हुए भी हमलोग अचेतन या निष्प्राण की कोटि में

नहीं रख सकते हैं क्योंकि इन सब में स्पष्ट रूप से चैतन्य की अभिव्यक्ति पाई जाती है। इन सबका विकाश क्षितितत्त्व के बाद हुआ है, इसीलिए कहता हूँ कि क्षितितत्त्व से पूर्व इसका कोई रूप दिखाई नहीं देता है। अतएव यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि भूमाचित्त स्थूलता की चरमावस्था (क्षितितत्त्व) को प्राप्त होने के बाद पुनः विपरीत धारा में पेड़-पौधा, जीव-जन्तु के स्तर से ऊपर उठ कर क्रमशः सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ रहा है ।

भूमाचित्त का सूक्ष्म की ओर विकाश भी उसके जड़त्वप्राप्ति के समान ही क्रमशः होता है। जमा हुआ घी जिस प्रकार हठात् नहीं पिघलता उसी प्रकार जड़ क्षितितत्त्व भी हठात् सूक्ष्म नहीं हो सकता है। पेड़-पौधों तथा पशु जीवन का क्रमशः विकाश देखने से ही

पता चलता है कि भूमा चित्त ने धीरे-धीरे सूक्ष्मता अर्जन किया है । पृथ्वी पर उद्भिद् जीवन में सर्वप्रथम काई नाम का एक प्रकार का उद्भिद् उत्पन्न हुआ था । चैतन्य का विकाश चाहे कितना भी अस्पष्ट क्यों न हो, इसमें है और इसी कारण इसे अचेतन पदार्थ नहीं कह सकते हैं। इसके बाद फूल-पत्तों से भरे उद्भिद् पैदा हुए जिनके भीतर चैतन्य का विकाश और भी स्पष्ट हो उठता है । तत्पश्चात् क्रमशः विकाश की धारा में यथाक्रम से निम्नकोटि तथा उच्चकोटि के प्राणिसमूह सृष्ट हुए । सृष्टि के इसी सूक्ष्माभिमुखी गति के अन्तिम क्रम में मनुष्य का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार हम सृष्टि के प्रारम्भिक स्तर में काई को पाते हैं जिसमें चैतन्य की क्षीण अभिव्यक्ति होती है और सबसे अन्त में मनुष्य को पाते हैं जिसमें चैतन्य का व्यापक विकाश हुआ है। सृष्टि क्रमशः विकशित होकर

काई से मनुष्य के स्तर तक आई है। चैतन्य का प्रतिफलन जड़ सत्ता से सूक्ष्मसत्ता में ही अधिक स्पष्ट है अर्थात् सूक्ष्मता तथा जड़ता की मात्रा पर ही प्रतिफलन का घन होना या अघन होना निर्भरशील है । इस विचार से प्राणियों के विकाश में काई सर्वाधिक जड़ हुई तथा मनुष्य हुआ सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति ।

जड़ से सूक्ष्म की दिशा की गति में सृष्टि सूक्ष्म तथा बन्धनमुक्त चैतन्य की ओर आगे बढ़ती है । अर्थात् सृष्टि के प्रथम चरण में प्रकृति के बन्धन के कारण पुरुष जड़ में परिणत होता है । तत्पश्चात् जड़ सत्ता सूक्ष्म तथा सर्वानुस्यूत (Transcendental) पुरुष की ओर बढ़ती है । इस तरह स्थूल विकाश तथा सूक्ष्म विकाश के विचार से सृष्टिचक्र में दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं ।

सृष्टि सगुण ब्रह्म की एक मानसिक रचना है । प्रकृति के गुण- बन्धन द्वारा सगुण पुरुष स्थूलता की चरम अवस्था क्षितितत्त्व में रूपान्तरित होता है, फिर विपरीत गति द्वारा स्थूलता के अन्तिम क्रम से उन्नत होकर विकशित चैतन्ययुक्त मानवीय सत्ता को प्राप्त करता है । चैतन्य के क्रमशः ह्रास होने की धारा में सृष्टि क्षितितत्त्व तक उतर आती है और चैतन्य के क्रमशः वर्द्धमान गतिप्रवाह में सृष्टि आगे बढ़ती है मानवीय स्तर में इसके द्वारा इस सिद्धान्त पर पहुँच पाते हैं कि मनुष्य सगुण ब्रह्म की कल्पना-तरंग का चरम तथा परम अभिप्रकाश है तथा इसके बाद का स्तर हुआ सूक्ष्म तथा भावमय भूमापुरुष में लीन हो जाना । अर्थात् सृष्टि के उन्नयन के क्रम में मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है ।

इस प्रकार व्योमतत्त्व तथा मनुष्य यथाक्रम से सगुणब्रह्म की मानस अभिव्यक्ति की प्रथम तथा अन्तिम स्तर है । जगत् में कोटि-कोटि मनुष्य के अतिरिक्त जीव-जन्तु, पेड़-पौधे तथा और भी अजस्त्र प्रकार के पाञ्चभौतिक विकाश दिखाई देते हैं। आज के व्यापक रूप से विकशित चैतन्ययुक्त मानवीय सत्ता की सम्भावना प्रारम्भिक स्तर में अर्थात् व्योमतत्त्व में भी निहित थी । वायु, अग्नि, जल तथा क्षितितत्त्व तक आकर उसी प्रसूप्त सम्भावना का स्फुरण धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट हो गया है । सृष्टि के विकाशक्रम में व्योमतत्त्व का वायुतत्त्व में रूपान्तरित होने पर भूमामन की कल्पना में फिर नया व्योमतत्त्व सृष्ट होकर रिक्त स्थान को पूरा करता है। प्रत्येक तत्त्व एक ही पद्धति से क्रमशः परवर्ती स्थूलतर तत्त्व में

रूपान्तरित होता है और फिर उसकी संरचना पूर्ववर्त्ती सूक्ष्मतर तत्त्व में निहित सम्भावना से होती है । अतएव ब्राह्मी कल्पना के प्रथम स्तर व्योमतत्त्व में जो चैतन्य सत्ता प्रसुप्त थी उसी ने सृष्टि के स्थूल तथा सूक्ष्म की ओर से धाराप्रवाहों में अग्रसर होकर आज मानवीय चैतन्य का रूप ग्रहण किया है। चैतन्य से अभिव्यक्त न होने के कारण जिस निष्प्राण बालुकण को आज हमलोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं सृष्टि के क्रमशः आगे बढ़ने की धारा में वह भी एक दिन व्यापक रूप से विकशित चैतन्ययुक्त मानवीय आधार पायेगा ।

सगुण ब्रह्म का सूक्ष्मत्व तथा सृष्टिचक्र में स्थूल और सूक्ष्म की ओर गतिप्रवाह को देख कर इस सिद्धान्त पर हम पहुँचते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति

सगुण ब्रह्म से होती है और इसका लय भी सगुण ब्रह्म में ही होता है ।

पुरुष स्वरूपतः सूक्ष्म है । क्षितितत्त्व में, प्रकृति के बन्धन की चरमावस्था में, पुरुष चरम जड़ता को प्राप्त होता है। फिर सृष्टि के इसके बाद की अवस्था में अर्थात् जड़ता के ह्रास होने के क्रम में यानी निर्गुणाभिमुखी गतिप्रवाह में पुरुष क्रमशः प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता जाता है अर्थात् सूक्ष्म की ओर की गति में पुरुष जिस प्रकार प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता जाता है उसी प्रकार स्थूल की ओर की गति में पुरुष के ऊपर प्रकृति का बन्धन अधिक दृढ़ होता जाता है और क्षितितत्त्व में आकर वह ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ पुरुष अपनी विशेषता खोकर निष्प्राण जड़ पदार्थ में परिणत हो जाता है। दूसरी ओर

स्थूल की दिशा में चरमावस्था को पहुँचकर बाँधने वाली शक्ति का चरम प्रयोग करने के बाद प्रकृति भी बन्धनी शक्तिरहित हो जाती है, किन्तु सृष्टिचक्र के द्वितीय स्तर में अर्थात् सूक्ष्म की दिशा के पथ में पुरुष का प्रतिफलन क्रमशः अधिक स्पष्ट होता जाता है तथा पुरुष क्रमशः प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होता जाता है। पुरुष क्रमशः मुक्त होने के कारण प्रकृति अब और उसके ऊपर अपने गुणबन्धन का आरोप व्यापक भाव से नहीं कर पाती है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब प्रकृति की विशेषता है पुरुष के ऊपर बन्धन का विस्तार करना तो पुरुष के लिए बन्धनमुक्त होना कैसे सम्भव हो सकता है ।

प्रकृति के प्रभाव द्वारा भूमाचैतन्य या समष्टिचैतन्य अपने को जिस अनन्तसंख्यक

अणुचैतन्य में विभक्त करता है उसी का कुछ अंश क्षितितत्त्व का रूप ग्रहण करता है तथा सृष्टि के सूक्ष्माभिमुखी गति में यह क्रमशः प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होता रहता है। सृष्टिचक्र के मूल सत्ता है सगुण ब्रह्म, इसीलिए अणुचैतन्य का जड़ता को प्राप्त होना या गुणबन्धन से मुक्त होना सम्पूर्ण रूप से उनका सापेक्ष है। सगुण ब्रह्म स्वयम् यदि मुक्त पुरुष न हो तो अणु की मुक्ति उनके द्वारा कैसे सम्भव है ? जो व्यक्ति आप ही बँधा हुआ है वह किसी दूसरे के बन्धन को नहीं खोल सकता है किन्तु बन्धन से मुक्त व्यक्ति यह काम आसानी से कर सकता है इसीलिए अणु को मुक्ति देने वाले सगुण ब्रह्म अवश्य ही मुक्त पुरुष हैं।

मुक्त पुरुष क्या है या किसको कहते हैं ? निर्गुण ब्रह्म में पुरुष तथा प्रकृति दोनों ही स्वाधीन हैं।

स्वाधीन पुरुष को प्रकृति गुणान्वित नहीं कर पाती है, अर्थात् निर्गुण पुरुष प्रकृति के प्रभाव से मुक्त है। इसलिए आध्यात्मिक साधना द्वारा जिन्होंने निर्गुण पद प्राप्त किया है वे ही मुक्त पुरुष हैं । दूसरों को मुक्त कराने के उद्देश्य से वे जब अपनी इच्छा से एक निर्दिष्ट समय के लिए प्रकृति के बन्धन में आते हैं उस समय भी वे मुक्त पुरुष ही कहे जायेंगे क्योंकि इस निर्दिष्ट समय के बीत जाने पर प्रकृति उन पर किसी बन्धन का आरोप नहीं कर सकेगी। इसलिए साधना के बल से जिन्होंने निर्गुणत्व अर्जन किया है तथा जन कल्याण के उद्देश्य से अपनी इच्छा से देह धारण कर प्रकृति के बन्धन के अधीन हुए हैं, वे ही मुक्त पुरुष हैं।

गुणाधीन नहीं होने के कारण मुक्त पुरुष दूसरे के बन्धन का कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि दूसरे के बन्धन का कारण होने से उनको प्रकृति के प्रभाव के अधीन होना पड़ेगा सगुण ब्रह्म भी मुक्त पुरुष हैं, इसलिए वे दूसरे के बन्धन का कारण नहीं हो सकते हैं । किन्तु सगुण ब्रह्म के स्वयम् मुक्त पुरुष होने पर भी उनसे उत्पन्न अणुसमूह व्यक्तिगत रूप से मुक्त नहीं हैं–सगुण ब्रह्म की इच्छा से ही उनके ऊपर प्रकृति के बन्धन का विस्तार होता है और इसीलिए सगुण ब्रह्म परोक्ष भाव से अणु के बन्धन का कारण होते हैं तथा स्वयम् भी बद्ध हो जाते हैं किन्तु ये अणुसमूह प्रकृति के बन्धन के अधीन आए कैसे और जगत् की सृष्टि क्यों हुई ? पहले ही हमलोग देख चुके हैं कि जो निर्गुणत्व अर्जन कर स्वेच्छा से जनकल्याण के उद्देश्य से प्रकृति के प्रभावाधीन होते हैं वे मुक्त पुरुष कहलाते

हैं । सगुण ब्रह्म भी मुक्त पुरुष हैं । इसलिए निर्गुणत्व अर्जन करने के बाद वे भी स्वेच्छा से जनकल्याण के उद्देश्य से प्रकृति के गुणाधीन हुए हैं । अणुचैतन्य का प्रकृत कल्याण हुआ उसकी प्रारम्भिक स्वरूपावस्था में वापस ले जाना जहाँ उसपर प्रकृति कोई प्रभाव विस्तार नहीं कर सकती है । अतएव प्रकृति के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए पुरुष में यथार्थ कल्याण का बीज निहित रहता है क्योंकि इसी से ही पुरुष परम पद को प्राप्त होता है । इसलिए सगुण ब्रह्म अपने प्रत्येक अणुचैतन्य को मुक्त पुरुष बनाने के महत् उद्देश्य से स्वयम् प्रकृति के गुण के अधीन हुए हैं। उनके साथ ही साथ अणुचैतन्य समूह भी प्रकृति के अधीन हो गए हैं। प्रत्येक अणुचैतन्य को मुक्त कराने के उद्देश्य से ही जब सगुण ब्रह्म प्रकृति के अधीन हुए हैं तो जब तक प्रत्येक अणुचैतन्य मुक्त

न हो जाता है या उन्हीं के समान प्रत्येक मुक्त पुरुष न बन जाता है तब तक उनकी इन प्रचेष्टा में विराम नहीं है यानी उनकी यह प्रचेष्टा रुकेगी नहीं–जारी रहेगी ।

अब प्रश्न उठता है कि प्रकृति के बन्धन से मुक्त सगुण ब्रह्म सर्वशक्तिमान होने के कारण जब अपना इच्छामात्र से ही अणुसमूह को मुक्त पुरुष कर सकते हैं तो उन्होंने यह नहीं कर उन लोगों को प्रकृति के अधीन क्यों रख दिया ? ऐसा करके सृष्टि की चरना ही क्यों की ?

प्रत्येक अणु को मुक्त कराने के उद्देश्य से सगुण ब्रह्म ने अपने को अनन्त संख्यक अणु में विभक्त

करने का प्रयोजन समझा और यही करने के लिए वे जड़त्व तक उतर आये हैं क्योंकि सूक्ष्म स्तर में विभाजन की क्रिया सम्भव नहीं है । उदाहरण स्वरूप, अग्नि जो क्षितितत्त्व से सूक्ष्म है तथा तेजस्तत्त्व के अन्तर्गत है उसका विभाजन क्या हमलोग कर सकते हैं ? अलग-अलग दो दीपक की बत्तियों के सहारे प्रज्ज्वलित | अग्नि को आसपास रखने पर दोनों की अग्नि शिखा मिलकर एक हो जाती है और हमलोग कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, उनका अस्तित्व पृथक रूप से निरूपण नहीं कर पाते हैं किन्तु, मुट्ठी भर धूल के मिल जाने पर भी आसानी से उसको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। अपेक्षाकृत सूक्ष्म जल, अग्नि, वायु, व्योम या इनसे भी सूक्ष्म भूमाचैतन्य का पृथकीकरण किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। केवल क्षितितत्त्व का ही विभाजन इच्छानुसार किया जा

सकता है। इसलिए यह बात पूर्णरूप से युक्तिसंगत है कि स्वयम् को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में विभाजित करने के उद्देश्य से ही सगुण ब्रह्म ने सूक्ष्म से चरम जड़त्व तक उतर कर क्षितितत्त्व का रूप ग्रहण किया है।

क्षितितत्त्व में ही अणुचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है इसलिए प्रकृति के गुणबन्धन की अन्तिम सीमा या सञ्चरधारा में क्षितितत्त्व में सगुण ब्रह्म परिणत होते हैं तथा फिर सूक्ष्माभिमुखी गति में या प्रतिसञ्चरात्मक धारा में बन्धन से मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ते हैं। प्रकृति के बन्धन से चैतन्य के मुक्त होने का अर्थ हुआ सूक्ष्मता का विकाश तथा अन्त में स्वस्वरूप निर्गुण ब्रह्म में वापस चला जाना । सृष्टि के प्रथम स्तर में अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की दिशा की गति में

भूमाचैतन्य अपने को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में विभाजित करते हैं तथा दूसरे स्तर में अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की दिशा की गति में अणुचैतन्य समूह को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करते हैं। सगुण ब्रह्म प्रत्येक अणु की मुक्ति चाहता है, एवं अपनी इसी इच्छा को पूर्ति के अभिप्राय से उनको सञ्चर और प्रतिसञ्चर धारा से समन्वित सृष्टिचक्र की रचना करनी पड़ती है। इसलिए प्रत्येक अणुचैतन्य

मुक्त पुरुष होने के लिए निर्गुणत्व अवश्य ही अर्जन करना होगा और तभी सगुण ब्रह्म की इच्छा की पूर्ति होगी । अब यह विचार करना है कि अणुचैतन्य समूह के निर्गुणत्व अर्जन करने के कार्य में सगुण ब्रह्म का क्या हाथ है और कहाँ तक है।

सगुण ब्रह्म की कल्पना द्वारा सृष्ट जगत् में अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की अभिव्यक्ति उन्हीं के मानसिक संवेदन में है। व्यक्ति विशेष की काल्पनिक सृष्टि जिस प्रकार उसी के मन में सीमित है, किसी दूसरे व्यक्ति का मन जिस प्रकार उसको नहीं देख पाता है, ठीक उसी तरह सगुण ब्रह्म की कल्पना द्वारा सृष्ट अणुचैतन्य भी उन्हीं के मन में सीमित है । अणुचैतन्य समूह के लिए भूमा मानस को सीमा से बाहर जाकर निर्गुणत्व अर्जन करना सम्भव नहीं है और इसलिए अणु की मुक्ति प्रचेष्टा भी सिद्ध नहीं हो सकती है। अर्थात् सगुण ब्रह्म का प्रत्येक अणु को मुक्त कराने की इच्छा भी अर्थहीन हो जाती है। तब सगुण ब्रह्म के मन की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है यह देखना है ।

ब्रह्म तथा प्रकृति अनादि अनन्त सत्ता हैं। पुरुष के अघन होने के कारण प्रकृति का प्रभाव प्रबल होकर उसे गुणान्वित करता है और ब्रह्म सगुण अवस्था को प्राप्त होते हैं । अनादि अनन्त ब्रह्म में अघन पुरुष भी अनादि काल से ही है और प्रकृति भी उस अघन पुरुष को अनादि काल से गुणान्वित करती आ रही है। इस प्रकार देखते हैं कि अनादि अनन्त काल से ही सगुण ब्रह्म एक गुणान्वित सत्ता हैं, किन्तु इससे पूर्व ही हमलोगों ने सगुण ब्रह्म को मुक्त पुरुष मान लिया है। इसलिए कहना पड़ता है कि सगुण ब्रह्म पहले बद्ध पुरुष थे एवं बाद में उन्होंने मुक्ति लाभ किया । यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त ऐसी कौन तीसरी सत्ता है जिसने बद्ध पुरुष को मुक्त किया ? किन्तु, इसके लिए तृतीय किसी सत्ता की सम्भावना ही नहीं है। अतएव पुरुष की अपनी इच्छा

और प्रचेष्टा ही उसकी मुक्ति का एकमात्र उपाय या आधार है । इस प्रकार प्रकृति के प्रभाव से अपने को मुक्त करने की प्रचेष्टा को साधना कहेंगे ।

मुक्ति लाभ से पूर्व सगुण ब्रह्म को प्रजापति कहते थे और साधना द्वारा मुक्ति अर्जन के बाद उनका नाम हुआ हिरण्यगर्भ ।

सगुण ब्रह्म चाहते हैं कि उनका प्रत्येक अणु प्रजापति के समान साधना करके मुक्त पुरुष बने, किन्तु वे स्वयम् अणुसमूह के लिए निर्गुणत्व अर्जन नहीं कर सकते है और इसीलिए उनका उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता है मुक्तिलाभ के लिए अणुचैतन्य समूह का प्राथमिक प्रयोजन है अपनी अवस्था के सम्बन्ध में

सदा सचेतन रहना तथा मुक्ति के लिए प्रबल आकांक्षा का होना। जिसे अपनी वृद्धावस्था या परनिर्भरशीलता का बोध ही नहीं है उसकी मुक्ति का प्रश्न भी नहीं उठता है । बन्धन तथा परमुखापेक्षी रहने की ग्लानि को समझने पर ही मनुष्य मुक्ति हेतु तत्पर होता है अणुचैतन्य का व्यापक विकाश जब तक नहीं होता है बन्धन का ज्ञान तब तक अच्छी तरह से नहीं होता और मुक्ति की प्रचेष्टा भी प्रबल नहीं होती । इसलिए मुमुक्षु अणुचैतन्य का व्यापक विकाश होना आवश्यक है।

क्षितितत्त्व में चरम जड़ता के कारण निष्षाण अणुसमूह में अस्तित्त्व ज्ञान नहीं होता है, अतएव क्षितितत्त्व में अणुचैतन्य के लिए अपनी मुक्ति का अर्जन करना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है।

इसलिए सगुण ब्रह्म ही उन सबको जहाँ तक सम्भव है प्रकृति के बन्धन से मुक्त करते हैं । सगुण ब्रह्म की इसी प्रचेष्टा के क्रम से मनुष्य का आविर्भाव होता है जिसमें हमलोग प्रतिफलित चैतन्य का व्यापक विकाश देख पाते हैं। मनुष्य अपने बन्धन के विषय में खूब सचेत हैं और मुक्तिलाभ करने के लिए भी वह खूब तत्पर हैं। मनुष्य में भी चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति न होने पर भी अभिव्यक्त चैतन्य से वह साधना की प्रेरणा पाता है तथा साधना के द्वारा मुक्त होने की योग्यता अर्जन करता है। अतएव साधना के बल पर मुक्ति अर्जन करने के योग्य मनुष्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से ही सगुण ब्रह्म ने जगत की रचना की है। अर्थात् साधना करके मुक्ति लाभ करने के लिए मनुष्य सृष्ट हुआ है। जो यह साधना नहीं करते हैं वे भूमा के

इच्छा के विरुद्ध आचरण करते हैं। उनका मनुष्य जन्म व्यर्थ हो जाता है ।

अणुचैतन्य तथा मानवीय चैतन्य एक पाञ्चभौतिक आधार सापेक्ष है । अणुचैतन्य जीव के मानसपट पर प्रतिफलित होता है, किन्तु भूमाचैतन्य के लिए स्थूल आधार का प्रयोजन नहीं है । मनुष्य के जैसा सगुण ब्रह्म का कोई आधार नहीं रहता है। मनुष्य सगुण ब्रह्म के मन की एक कल्पना विशेष है और इसका अस्तित्त्व उनके मन के भीतर है । सगुण ब्रह्म यदि अन्य किसी सत्ता के मन की कल्पना होते या मन का सापेक्ष होते तो उनकी भी स्थूल आधार की आवश्यकता होती, किन्तु जिस कारण वे देश, काल, पात्र से परे एक अनादि, अनन्त सत्ता हैं उसी कारण उनके

सम्बन्ध में सापेक्षिकता का या आधार का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

अणुमानस के साक्षीसत्ता अणुचैतन्य भूमामन के साक्षीसत्ता भूमाचैतन्य का ही एक प्रतिफलन है । सगुण ब्रह्म के समान मनुष्य के अन्तःकरण में भी विकाश होता है । सगुण ब्रह्म जिस प्रकार कल्पना-तरंग में सृष्टि करते हैं, मनुष्य भी उसी प्रकार अपनी कल्पना-तरंग में सृष्टि करता रहता है। भागलपुर में बैठकर कोई व्यक्ति अपनी कल्पना-तरंग में चौरंगी की सृष्टि कर सकता है किन्तु उसकी यह कल्पना क्षणभंगुर है और केवल उसके व्यष्टिमन में ही 'यह वास्तव है' की अनुभूति होती है और सगुण ब्रह्म की काल्पनिक सृष्टि जगत् उनकी कल्पना-तरंग के प्रभाव से उनके सापेक्ष अणुसमूह को एक शाश्वत सत्ता के

रूप में अनुभूत होता है राम के कल्पना-तरंग की विस्तृति उसके व्यष्टिमन तक ही सीमित रहती है, इसलिए श्याम का मन उसको वास्तव समझकर ग्रहण नहीं कर पाता है, परन्तु, यदि श्याम का मन राम का मन की परिधि के अन्तर्गत होता तो राम के कल्पना तरंग श्याम को भी राम के ही जैसी प्रतीत होती ।

पहले ही हमलोग देख चुके हैं कि मन की विस्तृति के द्वारा एक मनुष्य दूसरे के मन के ऊपर प्रभाव डाल सकता है और वैसी अवस्था में प्रभावाधीन व्यक्ति उस मनुष्य की कल्पना को वास्तव समझता है । इस तरह मनुष्य अपनी कल्पना द्वारा सृष्टि कर सकता है किन्तु उसकी वह सृष्टि पूर्व अनुभूति पर निर्भरशील है अपनी काल्पनिक सृष्टि को अवश्य ही उसने देखा है या सुना है। किन्तु, ब्रह्म सर्वनिरपेक्ष सत्ता हैं इसलिए

उनके बाहर या उनसे पहले से किसी भी अन्य सत्ता के होने की सम्भावना नहीं है जिसकी नकल वे अपनी कल्पना-तरंग में करेंगे । इसलिए ब्रह्म की कल्पना तरंग मनुष्य के जैसा पूर्वगृहीत अनुभूति पर निर्भरशील नहीं है, यह सदा नई है। मनुष्य एवं ब्रह्म का प्रधान पार्थक्य है उनका धर्म या निजी विशेषता । मनुष्य का धर्म या विशेषता है साधना के द्वारा मुक्त होना और ब्रह्म का धर्म या विशेषता है अपने अणु को मुक्त बनने के लिए प्रेरणा देना। वास्तव में जगत् तथा मनुष्य की सृष्टि के पीछे सगुण ब्रह्म की सभी प्रचेष्टाओं का एकमात्र मूल उद्देश्य है अपने प्रत्येक अणु की मुक्ति का उपाय करना ।

सूचीपत्र

मैं कौन हूँ या क्या हूँ ?

विकाश के क्रम में सबसे अन्त में मनुष्य का आविर्भाव हुआ है सगुण ब्रह्म के मानसिक देह से उत्पन्न उसके पाञ्चभौतिक देह में चैतन्य का विकाश व्यापक रूप से हुआ है । इस व्यापक विकशित चैतन्य के प्रतिफलन को ही अणुचैतन्य या आत्मा कहते हैं और इस पाञ्चभौतिक देह को मानव देह कहते हैं । अर्थात् मनुष्य के अणुचैतन्य तथा देह दोनों ही हैं। किन्तु, वह दोनों में से कोई भी नहीं है क्योंकि यदि वह आत्मा होता तो "मेरी आत्मा" नहीं कह सकता और यदि वह देह होता तो "मेरी देह" भी नहीं कह

सकता। अतएव वह आत्मा और देह इन दोनों के अतिरिक्त एक मालकियत जताने वाली सत्ता है। देखना चाहिए कि वह अतिरिक्त सत्ता क्या है ?

सूक्ष्म मैंपन का बोध एक भावमय सत्ता है। थोड़ा गम्भीर भाव से विचारने पर पता चलता है कि भावना द्वारा ही मैंपन का बोध की उत्पत्ति हुई है। कर्म की भावना या कर्म का होना चैतन्य का सापेक्ष है। इसलिए मैंपन का बोध चैतन्य पर ही निर्भरशील है अर्थात् मैंपन का बोध चैतन्य की ही एक मानसिक अभिव्यक्ति है। चैतन्य के अभाव में अस्तित्वबोध तथा उसका सापेक्ष मैं-बोध का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। आत्मा - जिसको अणुचैतन्य या अणुपुरुष भी कहते हैं, वह सगुण ब्रह्म के ही भीतर होने के कारण उन्हीं के समान प्रकृति के गुणों के अधीन हैं । प्रकृति के

सत्त्वगुणी प्रभाव द्वारा आत्मा में अस्तित्त्वबोध जगता है और इस अस्तित्वबोध से ही मैंपन उत्पन्न होता है । इसलिए व्यक्तिगत 'मैं' भावनात्मक हुआ जिसका विकाश अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्त्व गुण के प्रभाव से होता है। इसलिए मनुष्य का अस्तित्व बोध या 'मैं'- बोध और आत्मा या अणुचैतन्य एक वस्तु नहीं है। जैसे एक टुकड़ा काठ स्वयम् एक वृक्ष का सापेक्ष है, वैसे ही प्रकृति के सत्त्वगुण के प्रभाव से उत्पन्न वह 'मैं' का बोध भी स्वयम् आत्मा नहीं है किन्तु उसका अस्तित्व अवश्य ही आत्मा पर निर्भर करता है ।

पहले ही सिद्ध हो चुका है कि अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्त्वगुणी बन्धन के फलस्वरूप बुद्धितत्त्व का विकाश होता है, इससे अणुचैतन्य में अस्तित्व बोध

तथा 'मैं' का बोध जगता है । इसलिए व्यक्ति विशेष का "मैं" उसका अणुचैतन्य नहीं है, वह उसके मन के भीतर उसी के मन का एक अंश बुद्धितत्त्व है ।

मनुष्य का सत्ताबोध या मैं-बोध बुद्धितत्त्व से ही उत्पन्न है । अहंतत्त्व और चित्त से बुद्धितत्त्व सूक्ष्म है। प्रथम अध्याय में कहा गया है कि बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी बन्धन से अहंतत्त्व तथा अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी बन्धन से चित्त की उत्पत्ति होती है । अर्थात् बुद्धितत्त्व ही प्रकृति के रजोगुणी तथा तमोगुणी बन्धन के कारण अहंतत्त्व और चित्त में परिणत होता है। भूमा मानस से सृष्ट पाञ्चभौतिक देह में ही आत्मा या अणुचैतन्य का प्रतिफलन होता है । अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्त्वगुणी प्रभाव से बुद्धितत्त्व का विकाश होता है ।

इसलिए बुद्धितत्त्व या मैंपन का बोध स्थूल देह का सापेक्ष है। स्थूल देह के प्रत्येक अणु-परमाणु में मैंपन का बोध व्याप्त रहता है, इसीलिए मनुष्य अपनी देह के प्रत्येक अंग को 'मैं' समझता है। किन्तु पहले ही समझाया जा चुका है कि यह 'मैं' का बोध और स्थूल देह एक वस्तु नहीं है 'मैं' का बोध हुआ बुद्धितत्त्व और स्थूल देह है उसी के रहने का आश्रय या आधार विशेष । अतएव मनुष्य के मैंपन का बोध न उसका अणुचैतन्य है और न देह । यह अणुचैतन्य की एक मानसिक अभिव्यक्ति है जिसका नाम हुआ बुद्धितत्त्व तथा इसी की दो और अभिव्यक्तियाँ हुई क्रमशः अहंतत्त्व और चित्त ।

सूचीपत्र

जगत् और भूमासत्ता के साथ मेरा क्या सम्पर्क है ?

पुरुष या चैतन्य प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर निर्गुणतत्त्व या ब्रह्मस्वरूप अर्जन करता है। प्रकृति के बंधन के अधीन परम गुणान्वित सत्ता सगुण ब्रह्म को भगवान भी कहते हैं। इस विचार से सगुण भूमि के आत्मा या अणुचैतन्य को भी भगवान कह सकते हैं । बन्धनमुक्त अणुचैतन्य या भगवान निर्गुण ब्रह्म में लीन होकर परमास्थिति को प्राप्त है ।

पूर्व अध्याय में हमलोग देख चुके हैं कि मनुष्य का मैंपन - बोध उसकी आत्मा या अणुचैतन्य नहीं है, यह अणुचैतन्य की केवल एक स्थूल अभिव्यक्ति है । इसलिए मनुष्य का मैं-बोध भगवान नहीं हैं, यह भगवान की केवल एक परिवर्तित या विकृत अवस्था है । उदाहरण स्वरूप, कहा जा सकता है कि राम नाम का एक व्यक्ति जब शाहजहाँ का अभिनय करता है उस समय उसको शाहजहाँ ही कहते हैं । वास्तव में राम होने पर अभिनय करने के समय उसको राम नहीं कहते हैं । उसी प्रकार 'मैं' का बोध जब तक किसी विशेष मनुष्य का परिचय लेकर रहता है तब तक आत्मा या भगवान से उसका अस्तित्व पृथक रहता है। अतएव मनुष्य का मैं-बोध ही उसको अपनी आत्मा या भगवान से अलग रखता है। अभिनय समाप्त होने पर जिस प्रकार शाहजहाँ फिर राम के रूप में चला आता है

उसी प्रकार गुणबन्धन से मुक्त अणुचैतन्य मैंपन से रहित होकर निर्गुण ब्रह्म में समाहित होता है। इसलिए मनुष्य को मैंपन का बोध ही उसको अपने अणुचैतन्य से भिन्न रखता है।

मैंपन का बोध अणुचैतन्य की स्थूल अभिव्यक्ति होने पर भी अणुचैतन्य या भगवान से पृथक है। अतएव इस "मैं" के कर्तृत्व या अनुभूति के लिए अणुचैतन्य उत्तरदायी नहीं है । मंच पर शाहजहाँ की भूमिका में राम का अभिनय जिस प्रकार राम का चरित्र चित्रण नहीं कर शाहजहाँ के ही चरित्र का चित्रण करता रहता है, उसी प्रकार सभी कर्मों का कर्त्ता व्यक्ति के रूप में "मैं" ही है और फलभोग भी वही करता है। आत्मा स्वयम् कुछ नहीं करता है, फलभोग भी नहीं करता, वह केवल देखता रहता है।

पहले के अध्याय में कहा जा चुका है कि अणुचैतन्य साक्षी सत्ता है और केवल साक्षी सत्ता के रूप में ही उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं का कर्तृत्व में अणुचैतन्य को केन्द्र बनाकर जो सब कर्म होता है उन कर्मों के द्वारा अणुचैतन्य प्रभावित नहीं होता है। साक्षीसत्ता या ज्ञातृ सत्ता केवल दर्शक के रूप में रहता है- -वह न कर्मों का कर्त्ता है और न फल का भोक्ता ही है। उदाहरण स्वरूप, कहा जा सकता है कि फुटबाल मैच के दर्शक के लिए खेल की जीत का कोई महत्त्व नहीं है, खेलने वालों के लिए ही जीत का महत्त्व या हार की ग्लानि है। दर्शक हार-जीत का साक्षी अवश्य होता है। उसी तरह अणुचैतन्य या आत्मा भी अणुमानस के सभी कार्यों का तथा सुख-दुःख भोग का साक्षी रहता है ।

मनुष्य का मैं-बोध हुआ उसका बुद्धितत्त्व । यह 'मैं' केवल अस्तित्व-बोध जगाता है, किन्तु केवल अस्तित्व-बोध ही से तो उसका कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता । बुद्धितत्त्व की और भी अधिक जड़ अभिव्यक्ति अहंतत्त्व ही कर्म करता है और कर्म का फल भोगता है । विशुद्ध 'मैं' का बोध कराने वाला बुद्धितत्त्व स्वयम् कोई कर्म नहीं करता है और इसीलिए कर्मफल भोग भी नहीं करता है। किन्तु, इस बुद्धितत्त्व से उत्पन्न मैं-बोध के अभाव में अहंतत्त्व कोई भी कर्म करने की प्रेरणा नहीं पाता है । बुद्धितत्त्व ही अहंतत्त्व को कार्यान्वित करता है। इसलिए यह कहना पड़ता है कि बुद्धितत्त्व प्रत्यक्षरूप से कर्म नहीं करने पर भी अहंतत्त्व के माध्यम से परोक्षरूप से प्रत्येक कर्म तथा कर्मफल के साथ सम्पर्कित रहता है । उदाहरणार्थ कह

सकते हैं कि दो जमींदारों के बीच किसी मतभेद के कारण उनके कर्मचारियों में कोई संघर्ष होने पर उसके फलाफल के लिए जिस प्रकार दोनों जमींदार भागी होते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति विशेष का बुद्धितत्त्व प्रत्यक्ष भाव से कोई कर्म नहीं करने पर भी परोक्षभाव से अहंतत्त्व के सभी कर्मों तथा कर्मफलों के लिए वही भागी है । अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी बन्धन के कारण चित्त की सृष्टि होती है, अर्थात् अहंतत्त्व ही स्वयम् को और अधिक जड़ बनाकर चित्त के रूप में अभिव्यक्त करता है। पहले ही कहा जा चुका है कि चित्त दशों इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धितत्त्व या अहंतत्त्व के कार्यानुसार रूप ग्रहण करता है । उदाहरण स्वरूप, अहंतत्त्व के पुस्तक दर्शन की क्रिया में सहायता देने के लिए चित्त को पुस्तक का रूप ग्रहण करना पड़ता है, शब्द सुनने के लिए शब्द बनना पड़ता है । चित्त अहंतत्त्व की स्थूल अभिव्यक्ति है और अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व की ही स्थूल अभिव्यक्ति है ।

चित्त बुद्धितत्त्व और अहंतत्त्व का रूपान्तर विशेष है इसलिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्रों के स्पन्दन से उत्पन्न चैत्तिक स्फुरण अवश्य ही बुद्धितत्त्व तथा अहंतत्त्व के कार्य के अनुसार केवल भिन्न- भिन्न रूप है ।

बुद्धितत्त्व प्रेरणा देता है, अहंतत्त्व कर्म करता है और चित्त उसी कर्म के फल का रूप धारण करता है। बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों को मिला कर मन है। अतएव मन ही काम करता है और मन ही उसका फल भोगता है । अणुचैतन्य की स्थिति मन से ऊपर है, इसलिए वह न कर्म करता है और न फल ही भोगता है। वह केवल साक्षी बनकर ही देह में निवास करता है ।

ब्रह्म के स्वरूपावस्था में अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में पुरुष और उनकी अपनी विशेषता प्रकृति एक दूसरे के प्रभाव से

मुक्त हैं, किन्तु सगुण ब्रह्म में पुरुष प्रकृति के प्रभावाधीन है। पुरुष के ऊपर प्रकृति के इसी प्रभुत्व के कारण जगत् की सृष्टि हुई है। सगुण पुरुष प्रकृति की मर्जी के बिना कोई भी काम नहीं कर सकते हैं। पुरुष के स्वतन्त्र रूप से काम करने की प्रचेष्टा को प्रकृति बाधा देकर नष्ट कर देने की चेष्टा करती है। चैतन्यपूर्ण मनुष्य अपने इस बन्धन की दासता से मुक्ति पाने के उद्देश्य से प्रकृति के प्रभाव को नष्ट कर देने के लिए सचेष्ट हो उठता है और इसीलिए वह प्रकृति के विरुद्ध कर्म करने के लिए चेष्टाशील हो उठता है । प्रकृति भी अपना आधिपत्य कायम करने के लिए विशेष रूप से तत्पर हो उठती है । अतएव मनुष्य के सभी कर्म करने की प्रचेष्टाओं के पीछे रहती है प्रकृति के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए चैतन्य की प्रेरणा और जो कर्मफल मनुष्य को भोगना पड़ता है, वह है प्रकृति के द्वारा अपने बन्धन को अटूट रखने के लिए प्रकृति जो तत्पर होती है उसी की प्रतिक्रिया ।

अब देखा जाए कि कर्म किस प्रकार से होता है और कर्म का फल मनुष्य को क्यों भोगना पड़ता है। सभी कर्म मन में ही भाव तरंग के रूप में उत्पन्न होते हैं और मन अर्थात् बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों का मिलित रूप ही सभी कर्मों को करता है। पहले ही कहा जा चुका है कि चित्त कर्म की तरंग का अनुसरण कर कर्म के फल का रूप लेता है अर्थात् कर्म की तरंग के परिवर्तन के साथ ही साथ चित्त का भी परिवर्तन होता है । उदाहरण स्वरूप, पुस्तक देखने के लिए चित्त को रूप लेना पड़ता है । इस प्रकार कोई भी काम करने पर मन अपना स्वाभाविक रूप त्याग कर विकृत हो जाता है। मन की उत्पत्ति तथा उसका अस्तित्व पुरुष पर प्रकृति के प्रभाव का सापेक्ष है। अतएव कर्म की प्रेरणा देकर मन को स्वाभाविक गति की ओर मोड़ दे यह प्रकृति की इच्छा नहीं है मन के ऊपर प्रकृति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होने

के कारण प्रत्येक कर्म के लिए प्रकृति एक प्रतिकर्म की सृष्टि कर मन को उसकी पूर्वावस्था में वापस ले जाती है। इसी को कर्मफल कहते हैं । इसलिए विकृत मन को वापस ले जाने वाले माध्यम को कर्मफल कहा जा सकता है ।

विकृत मन कर्म की प्रतिक्रिया या कर्मफल भोगकर पूर्वावस्था में लौट जाता है। कर्म की जिस गति या छन्द से मन विकृत होता है, प्रतिकर्म या कर्मफल भी उस गति या छन्द का ही अनुवर्त्तन करता रहता है अर्थात् मन की विकृति के समय प्रकृति को जितना धक्का लगता है उतना ही धक्का प्रकृति भी मन की स्वाभाविक अवस्था में वापस लाने के समय देती है । उदाहरण स्वरूप, रबर की एक गेंद को अंगुली से दबाने पर उसमें एक सामयिक विकृति आती है, किन्तु अंगुली के हटाते हटाते इतनी ही शक्ति की विपरीत गति पैदा होकर उसको पूर्वावस्था में ले आती है और अंगुली इस

प्रतिक्रिया का अनुभव करती है। यहाँ रबर के गेंद की तुलना मनुष्य के मन से और अंगुली की तुलना उसके मैं-बोध से कर सकते हैं । इसलिए विकृत होने के समय मन पर जिस प्रकार का और जितना धक्का पहुँचता है विकृति से स्वाभाविक अवस्था में वापस आने के समय भी उतना ही और उसी प्रकार का धक्का लगता है। मन को स्वाभाविक अवस्था में वापस ले आना तथा मन का "कर्त्ता मैं" को दण्ड देना, प्रकृति का यह दोनों उद्देश्य प्रतिकर्म के भोग के माध्यम से पूरा होता है ।

प्रकृति के विधान के अनुसार मन का स्वभाव ही है, प्रतिक्रिया के फलस्वरूप स्वाभाविक अवस्था में वापस आना । इसलिए मनुष्य को अपने सभी अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई किसी की चीज चोरी कर उसके मन को कष्ट देता है तो इस चौर्यकर्म द्वारा उसके मन में विकृति उत्पन्न होती है। यह विकृत मन

स्वरूपावस्था में वापस आने की चेष्टा अवश्य ही करेगा और फलस्वरूप इस व्यक्ति को मन में उतना ही कष्ट भोगना होगा। उसी प्रकार यदि कोई अपने कर्म द्वारा दूसरे के मन को सुख पहुँचाता है तो प्रकृति के नियमानुसार मन को स्वरूपावस्था में वापस आने के समय वह भी अपने मन में उतना ही सुख का अनुभव करेगा। इस प्रकार प्रकृति मनुष्य को सभी अच्छे-बुरे कर्मों की प्रतिक्रिया का संवेदन उसके मन में जगाती है। और उसी के माध्यम से भोग होता है ।

बिना काम किये कोई भी नहीं रह सकता है। चुपचाप बैठे रहने पर भी काम होता रहता है। शरीर से कोई काम नहीं करने पर भी स्वभावतः चञ्चल मन बिना काम किये नहीं रहता । देह बिना हिलाये भी मन चिन्ता या कल्पना कर सकता है। यह चिन्ता या कल्पना अच्छी या बुरी दोनों ही हो सकती है, किन्तु ये सभी क्रिया हैं और इनके लिए देह से कुछ

करने की आवश्यकता नहीं है । दैहिक कार्य भी तो मानसिक कर्म का ही बहिर्मुखी विकाश मात्र है। पहले ही कहा जा चुका है कि मन ही सब कर्म करता है । दशों इन्द्रियाँ चित्त का ही अभिप्रकाश हैं। और यही सब मानसिक क्रिया को स्थूल क्रिया में रूपान्तरित करती है । दैहिक और मानसिक भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो सब कर्म सम्पन्न होते हैं वे सभी दैहिक कर्म हैं और इन्द्रियों की सहायता बिना जो कर्म मन स्वयम् करता है उसे मानसिक कर्म कहते हैं। दोनों ही प्रकार के कर्म मन में विकृति लाते हैं। मन इस विकृति से एक प्रतिक्रिया के माध्यम से मुक्त होता है और उस प्रतिक्रिया का भोग मन को अवश्य ही भोगना पड़ता है इसलिए कर्म मानसिक हो या दैहिक, उसके कर्त्ता को कर्मफल भोग करना ही होगा ।

चैतन्य का व्यापक विकाश प्रकृति के बन्धन के कारण मनुष्य के मन में अशान्ति उत्पन्न करता है । वह इस दासता की जंजीर में बँधा रहना नहीं चाहता है इसलिए वह स्वाधीन रूप से प्रकृति के विरुद्ध संग्राम में रत होता है जिसके फलस्वरूप प्रकृति भी उसको प्रतिक्रिया या कर्मफल भोग के माध्यम से दण्ड देती है। पृथ्वी पर केवल मनुष्य ही पूर्ण रूप से विकसित चैतन्य का अधिकारी है। इसलिए मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी स्वाधीन रूप से काम नहीं कर सकता है। स्वतन्त्र रूप से कर्म या प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध किये हुए कर्म के लिए दण्ड देना प्रकृति का नियम है। इसलिए स्वतन्त्र रूप से काम करने का अधिकारी जो नहीं है वह प्रकृति के द्वारा दण्ड नहीं पाता है। इस विचार से देखा जाता है कि मनुष्य को छोड़कर अन्य कोई भी प्राणी कर्मफल को भोग के रूप में दण्ड नहीं पाता है ।

भला या बुरा सभी कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है मनुष्य बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता है, इसलिए वह मृत्यु के पूर्व क्षण तक कर्म करता रहता है। मृत्यु के बाद दूसरा कोई उसके कर्मों का प्रतिकर्म भोग नहीं सकता है क्योंकि जो कर्म करता है उसी को प्रतिकर्म भोगना पड़ता है। अतएव मृत व्यक्ति जिसकी स्थूल देह को मिट्टी में गाड़ देते हैं या अग्नि में जला देते हैं वह किस प्रकार कर्म फल भोग करेगा उसकी चर्चा आगे की जायेगी ।

आत्मा या अणुचैतन्य अमर है, इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। स्थूल से सूक्ष्म की दिशा की गति में भूमा-सृष्ट पाञ्चभौतिक मानव आधार में अणुचैतन्य की पूर्णाभिव्यक्ति होती है। पुरुष और प्रकृति भिन्न- भिन्न सत्ता नहीं हैं, परस्पर अभिन्न हैं। मानव आधार में स्थित अणुचैतन्य में भी उसका निजी गुण प्रकृति उपस्थित है और

उसपर अपना प्रभाव डालकर मन की सृष्टि करती है। मन की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के मिलित रूप से होने के कारण इसका अस्तित्त्व पुरुष और प्रकृति का सापेक्ष है । अणुचैतन्य और प्रकृति एक दूसरे से अभिन्न सत्ता हैं । इसलिए मन अणुचैतन्य के साथ भी रहता है। मनुष्य का मैंपन-बोध मन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जब तक मन रहता है तब तक मैंपन-बोध भी रहता है । अणुचैतन्य एक शाश्वत सत्ता है, इसलिए उसका सापेक्ष मन और मन का सापेक्ष मैंपन-बोध भी नस्यात् नहीं होता है । इस तरह देखा जाता है कि अणुचैतन्य जब किसी मानव आधार का आश्रय लेता है तो मैंपन स्थूल देह को भी प्रभावित करता है । अणुचैतन्य के देह त्याग करते ही उससे अपृथक सत्ता प्रकृति भी देह त्याग कर देती है प्रकृति द्वारा सृष्ट मन भी स्वाभाविक नियम से प्रकृति के साथ ही देह त्याग करता है । इसके फलस्वरूप स्थूल देह की मृत्यु होती है । इससे

अणुचैतन्य और मन उनसे आश्रय को त्याग देते हैं यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अणुचैतन्य तो एक ही आधार के माध्यम से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमाचैतन्य को प्राप्त करने तक अपनी जययात्रा चालू रख सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि मानव देह पंच मौलिक तत्त्वों से बना हुआ भूमाचैतन्य की अभिव्यक्ति है । भूमाचैतन्य के सूक्ष्म से स्थूल की दिशा धारा में पंच मौलिक तत्त्वों की सृष्टि होती रहती है और प्रकृति के इच्छानुसार इसी स्थूल की ओर गति प्रवाह में बहुत से अणु को मिलाकर जड़ मानव देह की संरचना क्रमशः होती रहती है। इसी संरचना में सूक्ष्म व्योमतत्त्व क्रमशः वायुतत्त्व, वायुतत्त्व क्रमशः तेजस्तत्त्व, तेजस्तत्त्व क्रमशः जलतत्त्व और जलतत्त्व क्रमशः क्षितितत्त्व में रूपान्तरित होता रहता है । यही है प्रकृति की इच्छा और सृष्टिचक्र में भूमाचैतन्य इसी प्रकार स्थूलत्व प्राप्त करते हैं। प्रकृति के इस नियम के अनुसार मानव देह में परिवर्तन

अवश्यम्भावी है और इस परिवर्तन के लिए ही मृत्यु की आवश्यकता है । यदि यह बात मान ली जाय कि अणुचैतन्य मोक्ष प्राप्त करने तक एक ही आधार को आश्रय बनाकर रह सकता है तो लाखों वर्ष तक कोई-कोई आधार कर्म-प्रतिकर्म के चक्र में पड़ा रहेगा । उसके फलस्वरूप दीर्घकाल तक तदाश्रयी अणुसमूह (अर्थात् जीव का मन तथा अणुचैतन्य) का क्रम विकाश रुक जाएगा जिससे सृष्टिचक्र में तथा प्रकृति के नियम में विश्रृंखलता आ जाएगी । प्रकृति के नियमानुसार सृष्ट जगत् का सूक्ष्म से स्थूल में परिवर्तन होगा और समय के प्रवाह में मनुष्य को अपना स्थूल शरीर एक दिन त्यागना ही पड़ेगा । अर्थात् असंख्य अणुचैतन्य की समष्टि से सृष्ट जड़ मानव देह से भी एक दिन पूर्ण चैतन्य समन्वित असंख्य मानव देह का विकाश होगा ।

अतएव मृत्यु अवश्यम्भावी है। सबको एक दिन अपनी स्थूल देह का त्याग करना पड़ेगा। मृत्यु का अर्थ हुआ अणुचैतन्य तथा मन का देह से पृथक हो जाना प्रकृति द्वारा सृष्ट मन सदा ही अणुचैतन्य के साथ रहता है मनुष्य का मैंपन बोध मन का ही एक अंश है और इसलिए मन के ही साथ रहता है। पहले ही कहा जा चुका है कि मृत्यु है मन का देह से विच्छेद-केवल अलग हो जाना मन की मृत्यु नहीं । इसलिए मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता यानी उसका मैं-बोध भी अणुचैतन्य के साथ संलग्न रहता है। जिस क्षण प्रकृति पुरुष के ऊपर गुणबन्धन का विस्तार नहीं कर पाती है तथा मन का अस्तित्त्व कायम रखने में असमर्थ होती है उसी क्षण इस मैं का भी अन्त हो जाता है, अर्थात् वैयक्तिक जीवन का लय हो जाता है और इसी को मुक्ति कहते हैं ।

मनुष्य अपने मन के ही द्वारा कर्म करता तथा प्रतिकर्म भोग करता है । मन ही इन्द्रियों के माध्यम से मानसिक संवेदन को स्थूल कर्म में रूपान्तरित करता है और सुख या दुख देने वाली प्रतिक्रिया का भोग करता है । मृत्यु का अर्थ हुआ स्थूल देह की मृत्यु, मन की मृत्यु नहीं । मन केवल देह का त्याग कर देता है मन ही सभी कर्मों का कर्त्ता है। मृत्यु के पूर्व क्षण तक उसके द्वारा किये हुए कर्मों के फलभोग के लिए उसके अस्तित्व का अन्त नहीं होता है इसलिए कृत कर्मों का फल कौन भोगता है यह प्रश्न ही नहीं उठता । कर्म करने वाले मन की मृत्यु नहीं होती है, कर्मफल भोग वही करता है ।

सूक्ष्म मन को काम करने के लिए स्थूल आधार की सहायता लेनी पड़ती है। यह स्थूल आधार मस्तिष्क है, इसी की सहायता से मन कर्म करता है । मन और मस्तिष्क का इतना घनिष्ठ सम्पर्क है कि एक के बिना दूसरा काम नहीं

कर सकता है। मृत व्यक्ति का मस्तिष्क विकृत हो जाता है इसलिए वहाँ मन भी नहीं रहता है। जब कोई व्यक्ति बेहोश हो जाता है या संज्ञाहीन करने वाली किसी वस्तु के द्वारा उसे कुछ समय के लिए ज्ञानशून्य कर दिया जाता है, उस समय उसका मस्तिष्क कुछ काल के लिए निष्क्रिय हो जाता है, इसलिए तदाश्रयी मन भी स्थूल आधार की निष्क्रियता के कारण कोई काम नहीं कर सकता है । यह चेतनाहीन अवस्था मृत्यु की अवस्था नहीं है, इसलिए चैतन्य या अणुमन देह त्याग नहीं करने पर भी मस्तिष्क की निष्क्रियता के कारण निष्क्रिय रहता है । अतएव कर्म करने के लिए तथा कर्मफल भोगने के लिए मन को अवश्य ही मस्तिष्क का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। मृत्यु के बाद में मन स्थूल देह तथा अपना स्थूल आधार मस्तिष्क त्याग देता है । किन्तु, मृत्यु के पूर्व मुहूर्त तक वह कोई न कोई कर्म करता रहता है जिसके फल का भोग उसको अवश्य ही करना पड़ेगा। इसी कर्मफल को

भोगने के लिए और मस्तिष्क के अभाव में भोग सम्भव नहीं होने के कारण मन को नए आधार में फिर से जन्म लेना पड़ता है। अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के गुणबन्धन के फलस्वरूप ही मन की उत्पत्ति होती है और जिस कारण इन दोनों का सम्पर्क अभिन्न है उसी कारण प्रकृति द्वारा सृष्ट मन के साथ अणुचैतन्य नये आधार का आश्रय ग्रहण करता है अर्थात् मन और अणुचैतन्य दोनों ही का पुनर्जन्म होता है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए उनको पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार देखा जाता है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी और मृत्यु के बाद अभुक्त संस्कार को भोगने के लिए पुनर्जन्म भी अवश्यम्भावी है अणुचैतन्य स्थूल से सूक्ष्म की धारा के चरम बिन्दु तक क्रमशः इसी जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। अणुचैतन्य अनन्तकाल तक भी इस जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रह सकता है ।

मृत्यु के बाद स्थूल आधार मस्तिष्क के अभाव में मन के लिए काम करना सम्भव नहीं है। इसीलिए पूर्वकृत कर्मफल भोग के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता है । अतएव मृत्यु के बाद स्वर्ग और नरक की कल्पना एकदम गलत है और किये हुए शुभाशुभ कर्मों के लिए स्वर्ग सुख या नरक-यन्त्रणा भोग की कल्पना पूर्ण रूप से भूल है, क्योंकि पुनर्जन्म न होने तक स्थूल आधार मस्तिष्क के अभाव में सुख-दुख की अनुभूति होना सम्भव नहीं है। स्वर्ग या नरक के नाम से कोई अलग राज्य नहीं है । इस मर्त्यलोक में ही मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के लिए स्वर्गीय सुख या नारकीय यन्त्रणा भोगता रहता है ।

पुनर्जन्म से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भूत-प्रेत के नाम से कुछ नहीं है । युक्ति-तर्क के द्वारा पुनर्जन्मवाद को

मान लेना और फिर भूत-प्रेत में विश्वास करना–ये परस्पर विरोधी बातें हैं । पुनर्जन्म के माध्यम से नया आधार और मस्तिष्क नहीं पाने तक विदेही मन के लिए कोई भी काम करना या अपने कृतकर्मों का फल भोगना सम्भव नहीं होने के कारण यह बात युक्ति के आधार पर माननी पड़ती है कि पुनर्जन्म होगा ही । मन यदि मस्तिष्क की अनुपस्थिति में काम कर सकता तो मृत्यु के बाद भी वह भूमाचैतन्य में लीन होने की साधना जारी रखता किन्तु, मन कभी भी मस्तिष्क के अभाव में काम नहीं कर सकता है। मन के इसी विशेष धर्म के कारण पुनर्जन्म को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है और इसीलिए भूत-प्रेत इत्यादि भी एकदम काल्पनिक वस्तु है। मृत्यु के समय अणुचैतन्य और मन स्थूल आधार का त्याग कर देने से निष्क्रिय हो जाते हैं । जीवित काल में भी बेहोशी की हालत में मस्तिष्क की निष्क्रियता के कारण मन भी उतने समय के लिए निष्क्रिय हो जाता है। अचेतन

अवस्था और मृत्यु इन दोनों में भेद यही है कि पहला है मन का कुछ समय के लिए स्तब्ध हो जाना किन्तु देह त्याग नहीं करना और दूसरा है दीर्घकाल के लिए मन का स्तब्ध हो जाना तथा निष्क्रिय मन का देह त्याग कर चला जाना ।

पुरुष और प्रकृति का सम्पर्क अविच्छेद्य है इसलिए अणुचैतन्य का स्थूल देह त्याग करते ही प्रकृति-सृष्ट मन भी देहत्याग कर अणुचैतन्य का आश्रय ग्रहण करता है । मृत्यु के पूर्व काल तक के कृत कर्मों के कारण मन इस अवस्था में भी विकृत रहता है। कर्मों के प्रतिक्रिया रूप में सुख या दुःख भोग कर ही वह स्वाभाविक अवस्था में वापस जा सकता है मृत्यु के बाद मस्तिष्क के अभाव में मन निष्क्रिय हो जाता है और इसलिए प्रतिकर्म की सम्भावना से युक्त इस मन को सामयिक रूप से विकृतावस्था में ही रहना पड़ता है । प्रतिकर्म की सम्भावना को ही संस्कार कहते हैं मन की निष्क्रियता से

संस्कार का स्फुरण अवरुद्ध हो जाता है, इसलिए मस्तिष्कयुक्त नये आधार में पुनर्विकाश का सुयोग न मिलने तक संस्कार विदेही आत्मा के साथ ही रहता है। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रतिकर्म की सम्भावना के पूर्ण स्फुरण के लिए ही पुनर्जन्म की आवश्यकता है । यह स्फुरण तथा कर्मफल भोग जन्म के साथ ही साथ प्रारम्भ हो जाता है । मृत्युकाल में मन संकुचित होकर बीजात्मक अवस्था में परिणत होता है। एक रबर के गेंद के साथ इसकी उपमा दी जाती है। रबर के गेंदे को यदि एक इंच दबाया जाय तो उससे जो सामयिक विकृति उसमें आती है प्रकृति के नियमानुसार गेंद में उस विकृति से छूटकारा पाने के लिए एक प्रचेष्टा होती है। उसी प्रकार जन्म-मृत्यु भी मन को प्रसारित और संकुचित कर देता है। प्रतिकर्म के माध्यम से विकृत मन अपने स्वाभाविक अवस्था में वापस आ सकता, किन्तु प्रतिकर्म भोगने के पहले ही मृत्यु हो जाने के कारण उस आधार में यह

सम्भावना होता है । यही अभुक्त कर्मफलभोग का बीज या संस्कार ही विदेही आत्मा का आश्रय लेता है और यह अभुक्त संस्कारभोग के लिए ही आत्मा को पुनर्जन्म ग्रहण कर नये आधार का आश्रय लेना पड़ता है ।

अच्छा हो या बुरा सभी कर्म मन में विकृति पैदा करते हैं और उस विकृति से छुटकारा पाने की राह में मनुष्य को अपने कृत कर्मों का सुफल या कुफल अवश्य ही भोगना पड़ता है । मृत्यु के बाद मन बीज रूप से आत्मा का आश्रय ग्रहण करता है और इसी बीजात्मक मन के स्फुरण के लिए ही आत्मा को उपयुक्त आधार ग्रहण करना पड़ता है । व्यक्ति विशेष की छोटी-बड़ी प्रत्येक सुख-दुःखात्मक अनुभूति के साथ ही उसके सञ्चित संस्कार का एक सामञ्जस्य रहता है। इस विषय में यह बात जानना चाहिए कि किसी भी कर्म का प्रतिकर्म निर्दिष्ट नहीं रहता है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि

विकृति से मुक्त होने के समय मनुष्य को मानसिक परिमाप में अपने कृतकर्मों के संस्कारनुसार प्रतिकर्म का भोग करना पड़ता है उदाहरण स्वरूप, कोई व्यक्ति यदि चोरी करता है तो प्रतिकर्म रूप में उतनी ही कीमत की उसकी भी वस्तु की चोरी होगी यह निश्चित नहीं है चौर्य कर्म के द्वारा दूसरे के मन में जितना क्लेश पहुँचाया जाता है, अपराधी की मानसिक परिमाप में उतना ही कष्ट भोगना होगा । इसलिए कर्म के विषय में सबसे बड़ी बात यह है कि उस कर्म के द्वारा मानसिक परिमाण में किसको कितना क्लेश या आराम दिया है, कर्म करने वाले को अपने प्रत्येक किये हुए कर्म का फल भोग ठीक इसी रूप में करना होगा। इससे कोई भी बच नहीं सकता है। मृत्यु के बाद अणुचैतन्य के लिए नये आधार का निर्वाचन भी इसी आधार पर होता है, अर्थात् अणुचैतन्य और उसका बीजात्मक संस्कार अनायास ही किसी आधार को

ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि ऐसा होने से संस्कार का स्फुरण नहीं हो सकता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि अणुचैतन्य और उससे सम्बन्धित संस्कार के लिए आधार निर्वाचन कौन करता है। साक्षी सत्ता अणुचैतन्य स्वयम् कोई कर्म नहीं कर सकता है और बीजात्मक मन भी निष्क्रिय अवस्था में रहता है । पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य प्रकृति के नियमानुसार प्रतिकर्म भोग करता है । अतएव हमलोगों के अभुक्त प्रतिकर्म के भोगने में भी प्रकृति ही कारक सत्ता है अर्थात् प्रकृति के नियमानुसार ही पुनर्जन्म होता है तथा संस्कार का स्फुरण होता है । इसलिए कहा गया है कि मृत्यु के बाद प्रकृति ही संस्कारानुसार क्षेत्र निर्वाचन करती है । यह क्षेत्र निर्वाचन एक दिन में भी हो सकता है या लाखों लाख वर्ष भी लग सकते हैं, क्योंकि उपयुक्त क्षेत्र नहीं मिलने पर प्रतिकर्म

का बीज आधार ग्रहण नहीं कर सकता है । इसलिए मृत्यु के बाद कब और कहाँ पुनर्जन्म होगा यह नहीं कहा जा सकता है । इस निखिल विश्व में जीव के बसने योग्य असंख्य ग्रह-नक्षत्र में जिस किसी में भी अणुचैतन्य अपना उपयुक्त आधार पा सकता है । अतएव मृत्यु के बाद फिर इसी पृथ्वी पर जन्म होगा, यह निश्चित नहीं है। इस पृथ्वी पर केवल वही जन्म ग्रहण करेंगे जिनका पूर्वकृत कर्म का संस्कार इसके अनुकूल है । प्रतिकर्म भोग के साथ ही साथ मनुष्य प्रत्ययमूलक कर्म भी करता रहता है । पूर्वकृत कर्मफल भोग को अदृश्य कहते हैं। पूर्व जन्म के सञ्चित संस्कारानुसार मनुष्य अपने मन में जब सुख या दुःख पाता है उस समय स्मृति की कमी के कारण उसके लिए इन सभी अनुभूतियों के कारण को खोज निकालना सम्भव नहीं हो पाता है । इसीलिए उसको भाग्य या अदृष्ट कहते हैं। मनुष्य अपने दुःखों के लिए भगवान को दोष देता है किन्तु वास्तव में कर्मों के कर्त्ता के

रूप में वह स्वयम् ही अपना भाग्य या अदृष्ट नियन्त्रण करता है। इसके लिए भगवान को दोषी ठहराना पूर्णतः अर्थहीन है ।

भाग्य या अदृष्ट का कर्त्ता स्रष्टा होने के नाते मनुष्य को अवश्य ही उसका फल भोगना पड़ेगा। अर्थात् प्रत्येक सु- और कुकर्म के लिए उसी को और सु कु-फल भोगना पड़ेगा–यही प्रकृति का अटल विधान है । किसी भी क्षेत्र में इससे कोई छुटकारा नहीं पा सकता है ।

सूचीपत्र

इस जगत् में मनुष्य को किस तरह रहना चाहिए ?

चैतन्य की पूर्णाभिव्यक्ति के कारण मनुष्य अच्छा-बुरा समझ कर स्वाधीन रूप से कर्म कर सकता है। अच्छा-बुरा एक सापेक्षिक विषय है। अच्छा क्या है और बुरा किसको कहते हैं इसको विचार पूर्वक देखना चाहिए ।

सगुण ब्रह्म ने अपने प्रत्येक अणु को अपने ही समान मुक्त पुरुष बनाने के महत् उद्देश्य से जगत् की सृष्टि की है। इसीलिए स्थूल से सूक्ष्म की दिशा के धारा प्रवाह के पर्यायों में बहु अणुसमन्वित चैतन्यदीप्त मनुष्य का भी आविर्भाव होता है। सृष्टि के विकाश के क्रम में सूक्ष्म की दिशा में जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति का प्रभाव क्रमशः कम होता जाता है। उदाहरण स्वरूप, कहा जा सकता है कि मानवीय चैतन्य के ऊपर प्रकृति का प्रभाव पशुचैतन्य से अपेक्षाकृत कम है। प्रकृति के प्रभाव में इस प्रकार की कमी या

वृद्धि अवश्य ही सगुण ब्रह्म की मर्जी से होती है। सम्भवतः इस विषय में प्रकृति और पुरुष में सृष्टि के आदि में ही कोई समझौता हुआ है, नहीं तो प्रकृति- जिसकी विशेषता है पुरुष के ऊपर यथाशक्ति गुणबन्धन का विस्तार करना, पुरुष को अपने गुणबन्धन से कभी भी छुटकारा नहीं देती ।

सृष्टि की सूक्ष्माभिमुखी गति में पुरुष के ऊपर प्रकृति का बन्धन शिथिल होने पर भी सृष्टि का लय नहीं हो जाता है इसलिए पुरुष प्रकृति के बन्धन की सीमा में रह ही जाता है । इस अवस्था में यदि कोई विकशित -चैतन्य सत्ता स्वाधीनभाव से कर्म करती है तो प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है उसको दण्ड देना । दण्ड के फलस्वरूप अणुचैतन्य की सूक्ष्माभिमुखी गति कुछ समय के लिए रुक जाती है। चैतन्य का प्रकाश जहाँ अधिक है वहाँ प्रकृति का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। अणु के लिए यदि चैतन्य की व्यापकता बढ़ाना

सम्भव हो तो सूक्ष्म की दिशा की ओर उसकी यात्रा अधिक सुगम और त्वरित हो जायेगी । अतएव प्रकृति के विरुद्ध आचरण नहीं कर जिन कर्मों के द्वारा चैतन्य का विकाश अधिक हो उन्हीं कर्मों का अनुशीलन करना उत्तम कर्म कहा जा सकता है । प्रकृति के नियम का अनुशीलन करने तथा प्रकृति के निर्देशानुसार कर्म करने से कर्मफल भोग से छुटकारा मिलता है और चैतन्य के व्यापक विकाश के लिए चेष्टा करके प्रकृति की बन्धनी शक्ति शिथिल की जा सकती है और इसी से मनुष्य को परम पद की प्राप्ति भी शीघ्र होती है । ऐसे कर्म को उत्तम कर्म तथा विवेक और वैराग्य युक्त विद्यामाया कहते हैं ।

सर्वसाधारण में प्रचलित अर्थ के अनुसार वैराग्य का अर्थ सांसारिक आसक्ति से रहित तपस्या का क्लेश तथा कठोर आत्मनिग्रहमूलक पद्धति समझते हैं । किन्तु वास्तव में

वैराग्य का यह अर्थ नहीं है। वैराग्य द्वारा मनुष्य वस्तु का उचित व्यवहार सीखता है और मन को जड़ के नियन्त्रण से मुक्त करता है। उदाहरणार्थ, मादक द्रव्य मन और शरीर दोनों के लिए ही एक उत्तेजक वस्तु है। इसलिए उत्तेजक होने के कारण इसका व्यवहार अवश्य त्याज्य है । किन्तु चिकित्सक के निर्देशानुसार रोग से छुटकारा पाने के लिए औषध के रूप में इसका व्यवहार करने में कोई दोष नहीं है अतएव एक ही मादक द्रव्य व्यवहारानुसार कहीं उत्तेजक, और कहीं रोग से छुटकारा दिलाने वाला है । औषधि के रूप में इसका व्यवहार उचित व्यवहार है और इससे मनुष्य उसके वश में नहीं पड़ता । वस्तु का इस प्रकार यथार्थ व्यवहार ही वैराग्य है। यथार्थ व्यवहार की पुनरावृत्ति से मनुष्य का मन वस्तु का दास नहीं होता है, वरन् वस्तु के प्रति अनासक्त ही होना होता है। निस्पृहता की वृद्धि तथा वस्तु के प्रति अनासक्त रहने के अभ्यास से मनुष्य का मन सूक्ष्म होता है।

सूक्ष्मता के विकाश का अर्थ है प्रकृति के प्रभाव का ह्रास होना और इसी प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होने के रास्ते में मनुष्य मुक्ति की दिशा में पग-पग आगे बढ़ता है ।

'विवेक अच्छा-बुरा का पार्थक्य बनाता है। उत्तेजक वस्तु के रूप में मद्य के व्यवहार का कुफल तथा औषध के रूप में मद्य के व्यवहार के सुफल का विचार विवेक करता है। विवेक की सहायता से ही मन किसी वस्तु के व्यवहार का सुफल समझ पाता है। इसलिए मुक्ति पाने में सहायक वैराग्य के अनुशीलन के लिए विवेक आवश्यक है । इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल विवेक और वैराग्य द्वारा समर्थित कर्म ही सत्कर्म या विद्यामाया है ।

कुकर्म या अविद्यामाया ठीक इसके विपरीत है। जो कर्म चैतन्य के विकाश को सीमित कर देता है तथा प्रकृति के

नियम के विरुद्ध आचरण में प्रवृत्त करता है उसको कुकर्म कहा जा सकता है । अणुचैतन्य के क्रमविकाश का अर्थ हुआ मन की सूक्ष्मत्व प्राप्ति के साथ ही साथ चैतन्य का स्पष्ट या व्यापक रूप से विकाश सूक्ष्माभिमुखी गति की वृद्धि से साथ ही साथ मन में सूक्ष्मत्व प्राप्ति की प्रवृत्ति जगती है और तभी अणुचैतन्य का यह क्रमविकाश सम्भव है मन का जड़ के साथ सम्बन्धित होने से प्रकृति का बन्धन दृढ़ होता है और चैतन्य का प्रकाश अस्पष्ट हो जाता है इस अवस्था में चैतन्य की स्वाभाविक सूक्ष्माभिमुखी गति भी बिना रुके नहीं रहती, क्योंकि प्रकृति अपने अनिच्छित कर्म के लिए पुरुष को दण्ड देती है और उसके लिए उसी धारा में फिर बिना रुके आगे बढ़ना सम्भव नहीं होता है। इसलिए पुरुष का सूक्ष्मत्व प्राप्ति भी सामयिक रूप से रुद्ध हो जाता है। जड़ वस्तु की ओर मन का आकर्षित होना अविद्यामाया है और यह अविद्यामाया ही षरिपु तथा अष्टपाश की स्रष्टा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह,

मद और मात्सर्य हैं। षट्रिपु; शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान-ये हैं अष्ट पाश । रिपु का अर्थ है शत्रु, इसलिए षट्रिपु का अर्थ हुआ छः शत्रु ये सब मनुष्य के मन को जड़ की ओर आकृष्ट करते हैं और सूक्ष्म की दिशा की गति को रुद्ध करके शत्रु के समान काम करते हैं । इसीलिए ये सब शत्रु हैं । अष्ट पाश का अर्थ है आठ बन्धन । बद्ध अवस्था में मनुष्य में चलने फिरने की शक्ति नहीं रहती है। अष्टपाश मनुष्य के ऊपर बन्धनी शक्ति का विस्तार करता है और उसकी अग्रगति को रुद्ध कर देता है ।

सृष्टि के नियमानुसार मनुष्य की स्वाभाविक गति सूक्ष्म की दिशा में है । इसलिए सबको विद्यामाया का अनुशीलन कर इस स्वाभाविक गति को त्वरित कर अपने को परम सत्ता में लीन करने की राह को सुगम बनाना होगा ।

विद्यामाया या अविद्यामाया का अनुशीलन करने वालों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम : जो प्रकृति का नियम मान कर चलते हैं तथा अणुचैतन्य को विकशित करते हैं- ये सभी सद्पुरुष हैं; द्वितीय : जो प्रकृति का नियम मानकर चलते हैं, किन्तु अणुचैतन्य को विकशित करने की दिशा में उदासीन रहते हैं ; तृतीय : जो प्रकृति का नियम नहीं मानते हैं और अणुचैतन्य के विकाश में भी उदासीन रहते हैं ; चतुर्थ: जो प्रकृति का नियम नहीं मानते हैं और इसके अलावे अणुचैतन्य की अवनति कराते हैं। ये लोग हीन से भी हीन हैं।

मनुष्य को सृष्टि के पीछे सगुण ब्रह्म का उद्देश्य है-उसके माध्यम से अपने चरम सूक्ष्मत्व प्राप्ति की इच्छा को हासिल करना । इससे अणु भी परम पद लाभ करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं जिनको उसका धर्म कहते हैं परम पद में वापस

जाने के लिए अणुचैतन्य को अपना अस्तित्व मिटा देना होगा, किन्तु ऐसा करने में प्रकृति का अनुशासन अवश्य ही मानकर चलना होगा अन्यथा वह विघ्न सृष्ट कर प्रगति को रुद्ध कर दे सकती है । अतएव प्रथम श्रेणी के मनुष्य वे हैं जो अपना धर्म पालन कर सगुण ब्रह्म के उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम करते हैं ।

पशु भी प्रकृति का अनुशासन मानकर चलता है किन्तु अणुचैतन्य का व्यापक विकाश न होने के कारण वह अणुचैतन्य का अस्तित्त्व मिटा देने के अनुकूल कार्य नहीं कर पाता है। द्वितीय श्रेणी के मनुष्य जो केवल प्रकृति की अनुशासन मानकर चलते हैं वे इन पशुओं से किसी प्रकार भी श्रेष्ठ नहीं हैं। वे चैतन्य के व्यापक विकाश को सार्थक नहीं कर पाते हैं, इसलिए इनको मनुष्य देहधारी पशु कह सकते हैं।

तृतीय श्रेणी या चतुर्थ श्रेणी के मनुष्य वास्तव में पशु से भी हीन हैं । पशु केवल प्रकृति का अनुशासन मानकर चलते हैं क्योंकि उससे अधिक कुछ भी करने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहता है पर ये हीन और हीनतम मनुष्य अपने आचरण द्वारा केवल प्रकृति के विरुद्ध ही आचरण नहीं करते वरन् वे अपनी अभिव्यक्त चैतन्य को भी स्तिमित कर देते हैं। अतएव वे केवल मनुष्य देहधारी पशु ही नहीं हैं-वे पशु से भी अधम हैं

पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है कि मनुष्य को अपने कृतकर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा, इससे वह किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं पा सकता है इस कर्मफल भोग से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य बहुत कुछ करता है उनकी यह चेष्टा कहाँ तक युक्तिपूर्ण या सार्थक है। यह विचारपूर्वक देखा जाय ।

बहुत लोगों को विश्वास है कि ग्रहशान्ति या प्रायश्चित्त द्वारा कर्मफल भोग से छुटकारा सम्भव है किन्तु उनका यह विश्वास पूर्ण रूप से भ्रमात्मक है क्योंकि कृतकर्मों के प्रभाव से स्वाभाविक अवस्था में वापस आने के लिए मन को अवश्य ही कर्मफल भोगना पड़ेगा। यही प्रकृति का विधान है। हाँ, प्रतिक्रिया के भोग के माध्यम से मने के स्वाभाविक अवस्था में वापस आने की गति को अवश्य ही द्रुत या मन्थर किया जा सकता है जैसे, जो प्रतिकर्म भोग मन को स्वाभाविक अवस्था में वापस लाने में एक मास समय लेगा उसको तन्त्र के प्रभाव से घटाया या बढ़ाया जा सकता है, एक दिन या एक वर्ष किया जा सकता है ; किन्तु किसी भी प्रकार उसको एकदम मिटा देना सम्भव नहीं है। जैसे, एक महीने की शर्त पर किसी ने एक सौ रुपया कर्ज लिया है ; वह कर्ज देने वाले को कह सुनकर एक महीने की अवधि एक वर्ष या दो वर्ष बढ़वा सकता है किन्तु कर्ज तो उसको चुकाना ही पड़ेगा। और फिर एक

महीने के खर्च का रुपया एक दिन में भी खर्च कर दिया जा सकता है लेकिन उससे ऋण के अंक में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उसी प्रकार मनुष्य तान्त्रिक पद्धति द्वारा अपने कृतकर्मों के फल भोग की गति को द्रुत या मन्थर कर सकता है, किन्तु उससे छुटकारा किसी भी प्रकार नहीं पा सकता है ।

कर्मफल या कर्म की प्रतिक्रिया का भोग कर्त्ता को अवश्य ही भोगना पड़ेगा, किन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा भोग के काल को बढ़ा देने से भोग की तीव्रता की अनुभूति उतनी नहीं होती है। इसलिए आपात दृष्टि से लोग समझते हैं कि ग्रहशान्ति द्वारा ही कर्मफल भोग से छुटकारा पाते है । उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति के अदृष्ट की गणना करके यदि देखा जाय कि उसको हाथ टूटने का मानसिक क्लेश भोगना पड़ेगा तो ग्रह- शान्ति के द्वारा इस हाथ टूटने से रिहाई हो सकती है या छोटी-छोटी दुर्घटनाओं के माध्यम से इस भोग

की अवधि को बढ़ा सकते हैं, किन्तु जितना मानसिक क्लेश भोगना है उसमें कमी नहीं हो सकती है अर्थात् मानसिक परिमाप में जितना भोग करना है वह जब तक समाप्त नहीं होगा तब तक कृतकर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा ।

ग्रहशान्ति द्वारा समय को जिस तरह बढ़ाया जा सकता है उसी तरह घटाया भी जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, नीलम आदि पत्थर धारण कर मनुष्य अपने कर्मफल भोग की धारा बदल दे सकता है अथवा इसके प्रभाव से लॉटरी आदि से धन लाभ कर सकता है या कर्मक्षेत्र में पदोन्नति प्राप्त कर सकता है। इन सबसे मनुष्य को यह विश्वास होता है कि ग्रहशान्ति द्वारा ऐसा होता है, किन्तु वास्तव में यह नहीं है। भाग्य या कृतकर्म के फलभोग के परिमाण को मनुष्य कभी भी बदल नहीं सकता है या मिटा नहीं सकता है। पहले ही कहा गया है कि जिस कर्म के द्वारा मनुष्य दूसरे के

मन में सुखात्मक स्पन्दन जगाता है वह मानस परिमाप में उतना ही सुख का कारण होता है । यह सुख भोग का परिमाण परिवर्तित नहीं हो सकता है। केवल भोग का समय घटाया या बढ़ाया जा सकता है। ग्रहशान्ति द्वारा भाग्य परिवर्तन भी इसी प्रकार है। उदाहरण स्वरूप, कहा जा सकता है कि नीलम धारण कर किसी ने लॉटरी में एक हजार रुपया पाया तो यही समझना चाहिए कि यह पैसा उसने अपने अदृष्ट में निश्चित प्राप्त होने वाले धन से ही पाया है जो दीर्घ काल में बहुत से छोटे-छोटे किश्तों में वह पाता । एक ही किश्त में इतना अधिक रुपया मिल जाने के कारण बाकी सब किश्त से पाने के लिए और कुछ शेष नहीं रहता है। जब भी एक ही समय इतना अधिक धन पाने से मनुष्य को यह विश्वास होता है कि ग्रहशान्ति या नीलम धारण करने से ही अदृष्ट या भाग्य बदल गया है। वस्तुतः भाग्य कभी भी परिवर्तित नहीं होता है। केवल भोग का समय ही बदल जाता है । इसलिए देखा

जाता है कि मुमुक्षु आध्यात्मिक साधक के जीवन में सुख-दुःख का भोग खूब तेजी से होता है जिससे उनका कर्मफल भोग अति अल्प समय में हो जाता है। मुमुक्षु व्यक्ति इसी जीवन में मोक्ष लाभ करना चाहते हैं और इसीलिए प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने के लिए अपना सभी संस्कार भोग इसी जन्म में समाप्त कर लेना चाहते हैं ।

बहुत लोगों का विश्वास है कि सत्कर्म के शुभ फल के प्रभाव से कुकर्म के कुफल भोग से छुटकारा पाना सम्भव है। उनके विचारानुसार सु और कुकर्मों का परिमाण यदि समान हो तो भोग करने के लिए कुछ भी बाकी नहीं रहेगा किन्तु न ऐसा होता है और न ऐसा होना सम्भव है । पहले देखा गया है कि अच्छा-बुरा सभी प्रकार का कर्म मन में एक विकृति पैदा करता है और समान रूप में एक विपरीत प्रतिक्रिया द्वारा ही मन इस विकृति से छुटकारा पाता है । इसलिए कुकर्म के

द्वारा जो विकृति उत्पन्न होती है वह सुकर्म के द्वारा दूर नहीं हो सकती है क्योंकि सुकर्म भी मन में एक और विकृति उत्पन्न करता है। प्रत्येक विकृति को दूर करने के लिए एक स्वतन्त्र विपरीत-धर्मी प्रतिक्रिया चाहिए। अतएव सुकर्म का सुफल और कुकर्म का कुफल भोग अलग-अलग करना होगा। यही है प्रकृति का नियम ।

युक्ति और तर्क द्वारा हमलोगों ने देखा है कि किसी कर्म के प्रतिकर्म को मिटा देना सम्भव नहीं है । इसलिए अपने अदृष्ट के हेतु भगवान को दोष देना या अदृष्ट के कष्ट से छुटकारा के लिए प्रार्थना करना केवल मूर्खता है। जो कर्म करता है फल भी उसी को भोगना पड़ता है। आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है। इसके लिए भगवान को दोष देना अज्ञता या मूर्खता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आग का धर्म ही है जलाना और जो कुछ भी उसके सम्पर्क में आयेगा

वह जल जायेगा । इसी प्रकार प्रकृति का नियम है कि कर्म का प्रतिकर्म भोगना ही पड़ेगा । भगवान किसी भी रूप में इसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं क्योंकि भगवान तो कर्म नहीं करते हैं। मनुष्य स्वयम् ही कर्म करता है, इसलिए वहीं अपने सभी कर्मफलों के लिए उत्तरदायी है ।

प्रार्थना का अर्थ है कार्य, मन और वाक्य से भगवान के समीप अपनी निःसहायता बताकर दया पाने की चेष्टा करना । जो प्रार्थना करते हैं उनका विश्वास है कि भगवान की इच्छा से ही वे अपने सभी क्लेशों से मुक्त हो सकते हैं । इसलिए अपनी दीनता का स्मरण भगवान को कराने के अतिरिक्त प्रार्थना और कुछ नहीं है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि आर्थिक दीनता के कारण यदि कोई भगवान का समीप प्रार्थना करता है तो उसका यही अर्थ हुआ कि सबके मालिक भगवान ने उसको आर्थिक कष्ट में डाल कर उसके प्रति

सुविचार नहीं किया, अतएव वे फिर से इस पर विचार करें। अर्थात् दूसरे रूप से भगवान के विचार पर पक्षपात का दोषारोपण करना हुआ जो पूर्णतः अनुचित है। अतएव सैद्धान्तिक विचार से प्रार्थना केवल अज्ञता है, और कुछ भी नहीं। मनुष्य अपने कृत कर्म का फल भोग करेगा, यही अटल नियम है। भगवान के ऊपर दोषारोपण कर इससे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है ।

आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है। कितनी भी प्रार्थना क्यों न की जाय, आग से उसको बचाया नहीं जा सकता है क्योंकि इस प्रकार की प्रार्थना को स्वीकार करने का अर्थ हुआ अग्नि को अपने जन्मजात विशेष गुण से अर्थात् दाहिका शक्ति से रहित करना अथवा हाथ की बनावट को ऐसा कर देना जिसमें वह आग की दाहिका शक्ति से प्रभावित न हो सके किन्तु, भगवान की सृष्टि में नियम का कहीं भी भंग

नहीं होता है सभी वस्तुएँ-क्षद्र हो या वृहत्-अपने धर्म का पालन करती है। इसीलिए यह बात सम्भव नहीं है। प्रार्थना से प्रभावित होकर भगवान कभी भी अपनी सृष्टि का नियम भंग नहीं कर सकते हैं। इसलिए इस उद्देश्य से यदि कोई भगवान की प्रार्थना करे तो यह उसकी मूर्खता छोड़ कर और कुछ भी नहीं हैं ।

प्रकृति के नियमानुसार सबको अपने कृत कर्मों का फल भोगना पड़ेगा । प्रार्थना के प्रभाव से इस नियम का भंग नहीं हो सकता है ।

स्तुति है गान या छन्द के माध्यम से भगवान की महिमा की कीर्त्तन करना । इसको खुशामद के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहेंगे । अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य सत्तारुढ़ व्यक्ति की खुशामद करता है । भगवान की महिमा के

कीर्त्तन का अर्थ ही हुआ उनकी खुशामद करना । सर्वज्ञ भगवान के लिए 'सर्वशक्तिमान', 'दयामय' और 'करुणामय' आदि विशेषणों का व्यवहार करने के पीछे छिपा हुआ उद्देश्य है कि भगवान उससे खुश होकर खुशामद करने वाले पर कुछ कृपा करें और सर्वशक्तिमान होने के कारण व्यक्ति विशेष को कृतकर्मों के बन्धन से छुटकारा देने की क्षमता भी उनमें अवश्य ही है। अतएव स्तुति के पीछे अनुग्रह पाने की चेष्टा ही प्रबल रूप से काम करती है, इसलिए प्रार्थना के ही समान स्तुति के पीछे भी मनुष्य व्यर्थ ही समय नष्ट करता है ।

प्रार्थना और स्तुति अर्थात् भिक्षा या खुशामद द्वारा मनुष्य कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। किन्तु, भक्ति ऐसी नहीं है। देखा जाय भक्ति क्या है । 'भक्ति' एक संस्कृत शब्द है । भज् + क्तिन्= भक्ति जिसका अर्थ हुआ आत्यन्तिकी निष्ठा से पुकारना । यह प्रार्थना और स्तुति से पूर्ण रूप से

स्वतन्त्र है। इसकी उपयोगिता देखी जाय। सगुण ब्रह्म द्वारा सृष्ट मुमुक्षु अणुचैतन्य को परम पद पाने के लिए भक्ति का आश्रय लेना पड़ता है । भूमाचैतन्य की ओर आगे जाने का एकमात्र रास्ता है मन और प्राण से उनको पुकारते-पुकारते उन्हीं में लीन हो जाना। मनुष्य के मन का स्वाभाविक धर्म ही है लक्ष्य वस्तु या विषय की भावना लेते-लेते अन्त में वही हो जाना । उदाहरण स्वरूप, कोई यदि अपने को अविराम पागल समझे तो अन्त में वह वास्तव में पागल ही हो जायेगा । उसी प्रकार अणुचैतन्य भी बृहत् की भावना लेते-लेते एक दिन बृहत् (भूमाचैतन्य) में रूपान्तरित हो जाता है। भूमा सत्ता में अपने को लीन करने के लिए अणु को 'मैं वहीं हूँ' की भावना में विभोर हो जाना होगा। तभी वह एक दिन उसमें रूपान्तरित हो सकेगा । इसलिए भक्ति या भूमाचैतन्य के प्रति आकर्षण मनुष्य को भूमा में प्रतिष्ठित करता है । कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति द्वारा भूमा में प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा या

मुमुक्षा भी तो अनुग्रह • पाने की प्रचेष्टा है और इसीलिए भक्ति भी प्रार्थना ही है । किन्तु ऐसी भावना अर्थहीन है क्योंकि मनुष्य को सृष्टि के पीछे भगवान का उद्देश्य ही है अपने प्रत्येक अणु को अपने ही समान मुक्त पुरुष बनाना तथा परम सत्ता में विलीन कर देना । जगत् में क्षुद्र - बृहत् प्रत्येक सृष्टि के पीछे यही एक उद्देश्य काम करता है। इसलिए स्रष्टा के उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए तथा मानव जन्म को सार्थक करने के लिए यदि कोई भक्ति का आश्रय ले तो उसकी इस प्रचेष्टा को भगवान का अनुग्रह पाने की प्रचेष्टा नहीं कहा जायेगा, क्योंकि यदि वह प्रचेष्टा नहीं भी करे या उसके विपरीत आचरण करे तब भी उसको कुछ दिन पहले या कुछ दिन बाद उसी रास्ते का अनुशीलन करना होगा। इसलिए भक्ति प्रार्थना या स्तुति नहीं है प्रार्थना या स्तुति है व्यर्थ समय नष्ट करना जबकि भक्ति परम पद पाने का एक निर्भर करने योग्य तथा श्रेष्ठ उपाय है ।

स्तुति या प्रार्थन द्वारा कर्म से छुटकारा नहीं मिलता है तो इससे छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इसका एकमात्र उपाय है कुकर्म से अलग रहना क्योंकि कुकर्म के परिणाम स्वरूप मनुष्य के ऊपर प्रकृति का बन्धन अधिक दृढ़ होता है। आग में हाथ देने से हाथ जलेगा ही । स्तुति या प्रार्थना से कोई फल नहीं मिलेगा। इसलिए जलने के कष्ट से बचने के लिए हाथ को ही आग में नहीं देना चाहिए। उसी प्रकार कुकर्म नहीं करने से कुफल भोग की आशंका भी नहीं रहेगी ।

जगत् की सृष्टि के पीछे जब सगुण बह्म का उद्देश्य ही है अपने प्रत्येक अणु की मुक्ति का उपाय करना तो प्रकृति के नियमानुसार प्रतिकर्म का भोग भी मनुष्य को अवश्य ही उस शाश्वत मुक्ति की ओर क्रमशः आगे ले जायेगा मनुष्य को कुकर्म से रोक कर मुक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट करने के

मंगलमय अभिप्राय से भगवान ने प्रतिकर्म भोग का यह कठोर नियम बना दिया है। दण्ड के द्वारा भगवान मनुष्य को कुकर्म से दूर रहने की शिक्षा देते हैं । किन्तु, मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इस शिक्षा को ग्रहण नहीं कर दुर्भोग के लिए भगवान को ही दोषारोपण करते हैं ।

दुर्भोग के लिए भगवान को दोष देना अथवा कष्ट भोग से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना या स्तुति का आश्रय लेना बिल्कुल युक्तिपूर्ण नहीं है बुद्धिमान मनुष्य दुखः-कष्ट भोग के माध्यम से परम कल्याणमय भगवान का अमोघ निर्देश ग्रहण करते हैं तथा कुकर्म से निवृत्त होने की साधना में लग जाते हैं। इसलिए कुकर्म का त्याग करना बुद्धिमान आदमी का काम है ।

सूचीपत्र

मनुष्य का लक्ष्य क्या है ?

सगुण ब्रह्म की सृष्टि रहस्य के पीछे अनन्त संख्यक अणु की मुक्ति की कामना प्रच्छन्न भाव से है। सूक्ष्म अणुसमूह को विभाजित करने के लिए उसको जड़ क्षितितत्त्व में लाना पड़ा है। इससे यह मालूम पड़ता है कि सगुण ब्रह्म एक अनन्त ज्ञानसत्ता हैं जो अपनी सूक्ष्मता के कारण अविभाज्य हैं । इस अनन्त ज्ञानसत्ता की कल्पना ही सृष्टि है। सृष्टिचक्र की लीला से यही तथ्य निकलता है कि यह कल्पना धारा सगुण के चित्त से निकल कर उसी में लीन हो जाती है और मनुष्य का स्थान है इसी कल्पना तरंग के

शेष में इसलिए कुछ दिन पूर्व ही या कुछ दिन बाद मनुष्य को इस कल्पना-तरंग में लीन होना ही होगा ।

सगुण ब्रह्म एक सूक्ष्म सत्ता हैं । इसलिए उनमें लीन हो जाने के बाद सूक्ष्म सत्ता के रूप में भी मनुष्य के वैयष्टिक अस्तित्व का कोई स्थान नहीं रह जाता है। एक के अनन्त सत्ता होने के कारण दूसरे का अस्तित्व नहीं रह सकता है । इसलिए उसमें लीन हो जाने से मनुष्य स्वयम् सगुण ब्रह्म हो जाता है । उदाहरण स्वरूप, एक बूंद जल को एक ग्लास में मिला देने के साथ ही एक बूँद का अपना पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह ग्लास के जल के साथ मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी शाश्वत सत्ता में लीन हो जाने पर अपना पृथक अस्तित्व खो देता है ।

सगुण ब्रह्म में अणुचैतन्य का लीन हो जाना ही सृष्टि का परम तथा चरम लक्ष्य नहीं है। निर्गुणत्व अर्जन करने के पूर्व अणुचैतन्य सगुण ब्रह्म ही हो जाता है इससे सगुण ब्रह्म के जगत् की सृष्टि का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है ।

परम सगुण सत्ता की इच्छा है कि उनका प्रत्येक अणु निर्गुणत्व अर्जन करे, किन्तु अणु की साधनागत प्रचेष्टा या भूमामानस-तरंग में अणु जब सगुणत्व अर्जन करता है उस समय उनकी यह इच्छा व्यर्थ हो जाती है । सगुण सत्ता में अणु के लीन हो जाने को मुक्ति कहते हैं, अर्थात् कल्पना-तरंग या सृष्टिचक्र से मुक्ति । किन्तु, यह प्रकृत मुक्ति नहीं है, क्योंकि कल्पना-तरंग में अणु को इस सूक्ष्म सगुण स्थिति से फिर सृष्टिचक्र में आना पड़ता है तथा प्रकृत मुक्ति के पथ पर आगे चलना पड़ता है । इसलिए यह मुक्ति शाश्वत मुक्ति नहीं है, क्योंकि इससे भूमा की सृष्टिलीला का मौलिक उद्देश्य

पूर्ण नहीं होता है, अर्थात् प्रकृति के बन्धन से स्थायी मुक्ति नहीं मिलती है ।

परम निर्गुण सत्ता में लीन होकर निर्गुणत्व अर्जन करना या प्रकृति के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त होना ही प्रकृत मुक्ति है और इसी को मोक्ष कहते हैं । निर्गुण में जो एक बार लीन हो जाते हैं उनके ऊपर प्रकृति फिर अपनी बन्धनी शक्ति का आरोप कर उनको सृष्टिचक्र में नहीं ला सकती है और इस तरह वे परमपुरुष की निरन्तर इच्छा की पूर्ति करते हैं । इसलिए सगुण ब्रह्म में लीन हो जाना ही या मुक्ति अर्जन करना ही मनुष्य का चरम या परम लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य और भी महान है, उसका लक्ष्य है मोक्ष या कैवल्य मुक्ति ।

सूचीपत्र

आध्यात्मिक अनुशीलन और उसकी प्रयोजनीयता

प्रकृति के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए सर्व प्रकार की प्रचेष्टा ही साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन है ।

अब प्रश्न उठता है कि प्रकृति के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त होना सम्भव है या नहीं, क्योंकि अगर ऐसा नहीं है तो आध्यात्मिक अनुशीलन या साधना में समय नष्ट करने का

कोई अर्थ नहीं है । सृष्टितत्त्व के प्रसंग में पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार सगुण ब्रह्म अपने बद्धावस्था (प्रजापति) से मुक्त (हिरण्यगर्भ) हुए हैं। अतएव हमलोग इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि साधना द्वारा प्रकृति के बन्धन से मुक्ति लाभ करना सम्भव है । प्रकृति के बन्धन से मुक्ति पाने का अर्थ है निर्गुणत्व अर्जन करना क्योंकि तभी प्रकृति के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त हो सकते हैं। प्रजापति साधना करके ही हिरण्यगर्भ हुए थे इसलिए प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन।

सृष्टि तत्त्व से हमलोग देख पाते हैं कि प्रतिसञ्चर धारा में भूमामानस से उत्पन्न पञ्चभूतात्मक देह में ही अणुचैतन्य की व्यापक अभिव्यक्ति होती है और पूर्णतर अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति के प्रभाव से अणुचैतन्य मन-

युक्त होता है । प्रकृति के सत्त्व, रज और तमः- -ये तीन गुण मन के महतत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त की सृष्टि करते हैं। दस इन्द्रियों के माध्यम से चित्त की क्रिया और भी विस्तृत होती है, अर्थात् प्रकृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण अणुचैतन्य महत्ततत्त्व या बुद्धितत्त्व में परिणत होता है। गुणबन्धन के दृढ़ होने के साथ ही साथ वह क्रमशः अहंतत्त्व और चित्त में रूपान्तरित होता है एवं दस इन्द्रियों के माध्यम से चित्त स्थूल कर्म में लिप्त होता है अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति का प्रभाव धीरे-धीरे व्याप्त होता है और इस प्रकार अणुचैतन्य प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होकर धीरे-धीरे स्वरूपावस्था में वापस आता है। सूक्ष्मता प्राप्त करने की धारा में यह पहले चित्त से अहंतत्त्व में, अहंतत्त्व से महत्ततत्त्व में और सबसे अन्त में महत् तत्त्व से अणुचैतन्य में वापस आकर प्रकृति के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त हो पाता । इस प्रकार आध्यात्मिक अनुशीलन का तात्पर्य है

धीरे-धीरे प्रकृति के गुणबन्धन के प्रभाव से पूर्ण रूप से अपने को मुक्त कर लेना । पहले कहा जा चुका है कि चेतना की प्रेरणा से ही मनुष्य साधना करेगा। चित्तभूमि की चेतना ही है साधना का प्रथम क्षेत्र चैत्तिक भूमि से साधना के परिणाम स्वरूप चित्तधातु अहंतत्त्व में समाहित होती है। साधना की द्वितीय क्षेत्र अहंतत्त्व है जिसके फलस्वरूप अहंतत्त्व प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव से मुक्त होकर महत्तत्त्व में समाहित होता है। इस प्रकार से केवल महत्तत्त्व या विशुद्ध मैंपन की बोध ही रह जाता है। भूमा 'मैं' से अभिन्न यह महत्तात्त्विक स्थिति या विशुद्ध मैंपन का बोध ही सविकल्प समाधि कहलाता है । इसके बाद साधना के द्वारा महत्तत्त्व प्रकृति के सत्त्वगुणी बन्धन से मुक्त होकर सम्पूर्ण रूप से चैतन्य में समाहित होता है अर्थात् चैतन्य प्रकृति के बन्धन से मुक्त होता है और इसी अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इसलिए साधना का सूत्रपात चित्त में होता है,

अहंतत्त्व में यह परिपक्व होता है और महत्तत्त्व में यह सम्यक् रूप पाता है

प्रकृति के गुणबन्धन से मन को मुक्त करना आसान काम नहीं है। अनेक के मन में यह प्रश्न उठता है कि मानवीय अणुचैतन्य को क्या अणु प्रकृति ही गुणान्वित करती है ? नहीं, ऐसा नहीं है। निर्गुण ब्रह्म में प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर सकती है क्योंकि वहाँ वह पुरुष से दुर्बला है । जिस कारण अनन्त प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है उसी कारण अणुप्रकृति भी अणुपुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। इसलिए सगुण बह्म में अणुप्रकृति ने अणुपुरुष को गुणान्वित किया है यह धारणा गलत है। अतएव अवश्य ही किसी दूसरी प्रकृति ने पुरुष को गुणान्वित किया है, क्योंकि प्रकृति के गुणबन्धन के बिना तो सगुण ब्रह्म की सृष्टि हो नहीं सकती है। इसलिए यह विचार किया जा सकता है कि दो

अणुप्रकृति ने अणुपुरुष को गुणान्वित किया है किन्तु इससे इस विचार की सम्भावना रह जाती है कि अनन्त पुरुष को भी दो अनन्त प्रकृति ने गुणान्वित किया है, जो युक्तिसंगत नहीं है। प्रकृति एक ही सत्ता है जिसका अणु या अंश में विभाजन नहीं किया जा सकता है । इसलिए केवल अनन्त प्रकृति ही प्रत्येक अणुचैतन्य को गुणान्वित कर सकती है । अनन्त प्रकृति अनन्त शक्ति द्वारा अणुपुरुष को गुणान्वित करती है और अणुचैतन्य को मुक्ति के उद्देश्य से इस अनन्त प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करना पड़ता है, संग्राम में उसको परास्त करना पड़ता है। इसलिए साधना आसान काम नहीं है ।

प्रकृति एक शक्ति है जो सर्वदा अस्थिर है, इसीलिए उसकी सापेक्ष सृष्टि भी सदा ही परिवर्तनशील है । सृष्टिचक्र के सभी विकाश भूमाचैतन्य के स्थूल विकाश है । इसलिए सृष्टिचक्र में कोई परिवर्तन भूमामानस में भी अनुरूप

परिवर्तन लाता है, अर्थात् भूमामन भी चञ्चल होता है और इसलिए सृष्टिधारा में परिवर्तन होता है। किन्तु सृष्टिधारा में यह परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, क्योंकि भूमा मन में परिवर्तन लाने में प्रकृति को अधिक समय लगता है। भूमाचैतन्य के अनन्त होने के कारण परिवर्तन धीरे-धीरे होता है अनन्त भूमा मन को पूर्ण रूप से घेर कर उसमें कोई परिवर्तन सृष्ट करने में सतत क्रियाशीला प्रकृति को भी काफी समय लगता है भूमा मन को गुणान्वित करने के समय प्रकृति अणुमानस के ऊपर भी अपना गुण विस्तार करती है, इससे अणुमानस की क्रियाशीलता बहुत बढ़ जाती है। अनन्त प्रकृति के पूर्ण प्रभावाधीन अणुमानस चाञ्चल्य की चरमावस्था को प्राप्त होता है। सर्वसाधारण द्वारा बिदित यह अणुमानस की चञ्चलता तथा उससे उत्पन्न परिवर्तनशीलता के विषय में विशद वर्णन निरर्थक है। मानव मन का यह गुण विशेष सम्पूर्णतया प्रकृति द्वारा ही दिया हुआ है

प्रकृति की निरन्तर चञ्चलता ही उसकी सृष्टि को आगे ले चलती है और यह चाञ्चल्य अणुमानस के ऊपर प्रभाव विस्तार करता जाता है। स्थान या काल विशेष में इस चाञ्चल्य की न्यूनाधिकता देखी जाती है । प्रकृति के प्रभाव की भिन्नता के कारण अणुमानस के ऊपर कहीं बन्धन दृढ़ है और कहीं शिथिल है। उसका प्रभाव महत्तत्त्व के ऊपर सबसे कम है और चित्त के ऊपर सबसे अधिक है। इसलिए चित्त की तुलना में महत्तत्त्व में चाञ्चल्य बहुत कम है । साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के प्रभाव को शिथिल करता है और साथ ही साथ मन की चंचलता भी धीरे-धीरे कम हो जाती है। मन की चंचलता का कारण प्रकृति है, इसलिए उसका प्रभाव कम होने के साथ ही साथ मन भी कुछ समय के लिए स्थिर हो जाता है। किन्तु, अणुचैतन्यं प्रकृति के प्रभाव से जब तक मुक्त नहीं होता है

तब तक मानसभूमि में यह स्थिरता या शान्ति दीर्घकाल तक नहीं रह सकती है।

मन की स्थिरता को दृढ़ करना तथा मन को एकाग्र करना दोनों ही एक है । इसलिए अणुचैतन्य जब तक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो जाता है तब तक मन का एकाग्र होना सम्भव नहीं है साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन का लक्ष्य भी इसी मानसिक एकाग्रता की प्रतिष्ठा है मानसिक एकाग्रता को प्राप्त करने के उद्देश्य से सर्व प्रथम स्थूलतम अभिव्यक्ति चित्त को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त कराना होगा । अहंतत्त्व और महत्ततत्त्व या बुद्धितत्त्व को भी एक-एक कर यही करना होगा । मन जो चित्त, अहंतत्त्व तथा महंत्ततत्त्व में व्याप्त है वह क्रमशः इन सबसे अलग होने पर ही एकाग्र हो सकता है। इसलिए मन की एकाग्रता साधना या

आध्यात्मिक अनुशीलन के सिवाय और कुछ नहीं है और इससे अणुचैतन्य प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

किन्तु मन की एकाग्रता मुक्ति के रास्ते में कितनी सहायता देती है यह जाँच कर देखना चाहिए । व्यक्त जगत् से मन को समेट कर वापस लाना ही मन की एकाग्रता है, यह मन का लय या ध्वंस नहीं है। अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के गुणबन्धन के आरोप से मन की सृष्टि होती है । अतएव मन जब तक है प्रकृति का प्रभाव तब तक अवश्य ही रहेगा। मन की एकाग्रता का अर्थ प्रकृति के बन्धन से मुक्ति नहीं है। यह केवल मुक्तिपथ के लिए निर्भर करने योग्य एक उपाय है । सम्पूर्ण अकाग्र होने पर भी मन रहता है किन्तु उसके ऊपर प्रकृति का गुणबन्धन शिथिल हो जाता है महत्तत्त्व के ऊपर प्रकृति का गुणबन्धन बहुत कम है । एकाग्र मन में चित्त और अहंतत्त्व महत्तत्त्व में लीन हो जाने पर केवल

महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व ही रह जाता है। महत्तत्त्व केवल मैंपन का बोध बताने वाला है । इसलिए मन की एकाग्रता को मोक्ष या महानिर्वाण नहीं कह सकते हैं । एकाग्र मन सविकल्प समाधि की अवस्था है जहाँ एकमात्र भाव रहता है कि मैं वही हूँ ।

प्रकृति के गुणबन्धन की वृद्धि के कारण सृष्टि का विकाश सूक्ष्म से स्थूल की ओर होता है। गुणबन्धन की दृढ़ता तथा शिथिलता के द्वारा जड़ता और सूक्ष्मता निर्धारित होती है। इसलिए व्यक्ति विशेष में उसका महत्तत्त्व सबसे अधिक सूक्ष्म हुआ और चित्त हुआ सबसे अधिक जड़ । साधना या अध्यात्म-अनुशीलन मन की सहायता देता है। जड़ता या सूक्ष्मता प्रकृति के प्रभाव के मात्रा भेदानुसार होता और गुणबन्धन की कमी होने से ही मन फिर सूक्ष्मता की ओर वापस आ जाता है । साधारणतः भूमाचित्त के ऊपर प्रकृति के

चरम प्रभाव के द्वारा सृष्ट जागतिक वस्तुओं की भावना में ही मन संलग्न होता है। चरम जड़भाव में संलग्न होने के लिए मन पर प्रकृति का प्रभाव अधिक हो जाता है । पहले ही देख चुके हैं कि चैतन्य के पूर्ण विकशित होने के कारण मानव मन कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और साथ ही साथ प्रकृति का तोड़ने की इच्छा भी उसमें क्रमशः जाग उठती है । इसलिए प्रकृति दो विपरीतधर्मी भाव (शक्ति) सृष्ट करती है जिनको माया के नाम, से पुकारते हैं। ये हैं अविद्यामाया और विद्यामाया। जो लोग विद्यामाया का आश्रय ग्रहण करते हैं वे प्राप्त स्वाधीनता को सार्थक करते हैं और शीघ्र ही परम पद को प्राप्त होते हैं क्योंकि विद्यामाया मन को सूक्ष्म की ओर ले जाती है । जो अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण करते हैं वे सगुण ब्रह्म की कल्पना-तरंग में कर्म और कर्मफल के चक्र घिरे रहते हैं। अविद्यामाया मन को जड़ विषय की ओर ले जाती है तथा जड़ता में संलग्न कराती है वास्तव में मन को

जागतिक वस्तुओं में लगाकार प्रकृति की अधीनता में रखने के लिए अविद्यामाया बंधन रज्जू के समान काम करती है । साधना या आध्यात्म अनुशीलन मनुष्य को प्रकृति की अधीनता के बंधन से मुक्त करा कर स्वाधीनता की ओर आगे बढ़ाता है। और इससे उनका मन सूक्ष्मता प्राप्त होता है। प्रकृति के गुणबन्धन में शिथिलता आने से मन सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है, षट् रिपु तथा अष्ट पाश उसके मार्ग में और बाधा नहीं डालते हैं। प्रकृति के प्रभाव की शिथिलता से अविद्यामाया का बन्धन जिस प्रकार शिथिल हो जाता है। उसी तरह अविद्यामाया के बन्धन या श्रृंखला टूट जाने से प्रकृति का गुणबन्धन भी शिथिल हो जाता है। इसलिए अविद्यामाया मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकती है क्योंकि यह केवल मन के ऊपर गुणबन्धन का विस्तार करती है तथा मन को जागतिक वस्तुओं में लगाकर इसे चरम जड़ता की ओर ले जाती है। मन की समता को दृढ़ करना,

उसको एकाग्र करना तथा जागतिक विषयों के प्रभाव को दूर हटा कर सूक्ष्म की ओर ले जाना-यही है प्रकृति के बन्धन को काटने का उपाय। अविद्या का आश्रय करने वालों के लिए यह सब कभी सम्भव नहीं है। मन की समता के अभाव में पाञ्चभौतिक विषयों में लीन मन जड़ का गुलाम बन जाता है और मन की एकाग्रता तब दुर्लभ हो जाती है। इस प्रकार मन के लिए प्रकृति का बन्धन तोड़ कर मोक्ष लाभ करना कभी भी सम्भव नहीं है । इसलिए मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से अविद्या का आश्रय अवश्य ही त्याग करना होगा ।

साधना के बल पर अणुचैतन्य प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर परम पद प्राप्त करता है। प्रकृति का प्रभाव दृढ़ होने से चैतन्य स्तिमित हो जाता है । चैतन्य है परम ज्ञान जो बोधि तथा बुद्धि से युक्त है, इसलिए प्रकृति के अधिक प्रभाव का अर्थ हुआ अज्ञान के वश में विशेष रूप से होना । प्रकृति का

प्रभाव कम होते ही स्वाभाविक रूप से ही बोधि का जागरण तथा चैतन्य का विकाश होता है । आध्यात्मिक अनुशीलन प्रकृति के प्रभाव को शिथिल या दूर हटा कर मनुष्य को पूर्ण ज्ञान की ओर, पूर्ण अभिव्यक्त चैतन्य की ओर ले जाता है ।

साधना है प्रकृति के विरुद्ध संग्राम तथा संग्राम में बिजयी होकर प्रकृति की अधीनता से मुक्त होना । प्रकृति एक अद्भुत शक्ति है जो सभी सत्ताओं को, यहाँ तक कि प्राकृतिक विचित्रता को भी नियन्त्रण करती है। इसलिए साधना या अध्यात्म अनुशीलन का अर्थ है इसी सर्व नियामक सत्ता प्रकृति के ऊपर अधिकार प्रतिष्ठित करना। पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति एक अविच्छेद्य तथा अपृथक सत्ता है । संग्राम के पूर्व जो प्रकृति पुरुष को नियन्त्रित करती है वही संग्राम में परास्त होने के बाद पुरुष के अधीन हो जाती है। इस प्रकार साधना के बल पर पुरुष सर्व नियामक सत्ता

प्रकृति को संग्राम में परास्त कर उस पर प्रभुत्व स्थापित करता है। इसलिए साधना या आध्यात्मिक अनुशीलन मनुष्य को अनन्त अलौकिक शक्ति के अधिकारी बना देता है

साधना द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति का यथार्थ व्यवहार क्या है यह जानना चाहिए। ब्रह्म की स्वरूपावस्था में अर्थात् निर्गुणा स्थिति में पुरुष और प्रकृति दोनों ही रहते हैं, किन्तु पुरुष वहाँ अधिक व्यक्त है और प्रकृति उनपर अपना गुणबन्धन का विस्तार नहीं कर पाती है। निर्गुण की यह दुर्बला प्रकृति पुरुष की इच्छामात्र से ही जा सकती है, किन्तु पुरुष ऐसा नहीं करता है। गुणबन्धन की अनुपस्थिति से पुरुष के ऊपर प्रकृति का आधिपत्य विस्तार की इच्छा भी नहीं जगती है । पुरुष के ऊपर प्रकृति के बंधन का विस्तार होने पर ही इस प्रकार की इच्छा जगती है। इसलिए पुरुष की दुर्बलता के कारण ही उसके प्रभुत्व फैलाने

की इच्छा जगती है। इससे पुरुष प्रकृति के बन्धन के अधीन हो जाता है और प्रभुत्व कायम रखने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए पुरुष कभी भी प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सका है। साधना के द्वारा मनुष्य धीरे-धीरे प्रकृति के बन्धन से मुक्ति लाभ करता है और इससे जो शक्ति प्राप्त होती है उसे भी वह धीरे-धीरे अर्जन करता है । प्रभुत्व की लालसा से साधना द्वारा अर्जित इस शक्ति के प्रयोग का अर्थ ही है फिर से प्रकृति के बन्धन में पड़ना । प्रकृति का गुणबन्धन ही शक्ति प्रयोग करने की इच्छा जगाता है। इसलिए शक्ति प्रयोग की इच्छा या शक्ति का प्रयोग मनुष्य द्वारा विशेष रूप से इच्छित तथा बहुत कष्ट से अर्जित मुक्ति का बाधक हो जाता है और वह फिर से उसको विपरीत धारा में ले जाकर प्रकृति के नियन्त्रण के अधीन कर देता है। मनुष्य तब प्रकृति का बन्धन नहीं काट सकता है ।

मनुष्य दूसरों से यश पाने की लालसा से साधना द्वारा प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करता है। अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन द्वारा मनुष्य सहज ही दूसरों से प्रशंसा पाता है तथा उनका श्रद्धेय, यहाँ तक कि आराध्य बन जाता है । साधारण मनुष्य उनको बहुत बड़ा साधक समझते हैं । विभूति प्रदर्शन के पीछे यही अभिप्राय रहता है। दूसरों की श्रद्धा भक्ति पाने की इच्छा अविद्याश्रयी मान तथा मद इन पाश-रिपु के वश में डाल देती है । इस अभिप्राय से शक्ति का व्यवहार मन को अविद्याश्रयी बना देता है और यह अविद्यामाया मनुष्य का अधःपतन कराती है। इसलिए अलौकिक शक्ति का व्यवहार मनुष्य को अविद्या के अधीन कर देता है और उसका नैतिक अधःपतन कराता है ।

अनेक व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि दुःख की निवृत्ति के उद्देश्य से, जैसे कठिन रोग से मुक्त कराने के उद्देश्य से

साधनालब्ध शक्ति का प्रयोग करना उचित है, किन्तु इसके पीछे भी युक्ति नहीं है । प्रत्येक को अपना-अपना कर्मफल भोगना होगा और रोग, शोक या दैव दुर्घटना- ये सभी कर्मफल भोग के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। भगवान सर्वमंगलमय हैं। तथा उनकी सृष्टि के नियमानुसार ही मनुष्य को कृतकर्मों का फल भोगना पड़ता है । इसी भोग के माध्यम से मनुष्य अन्याय से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है । मनुष्य के द्वारा उनके कृतकर्मों का फल भोग कराने के पीछे भगवान का यही उद्देश्य है । साधनालब्ध अलौकिक शक्ति के द्वारा इस चिरन्तन नियम का उल्लंघन करना कल्याणकारी नहीं है । कृतकर्मों का फल अवश्य ही भोगना होगा। इससे मुक्ति दिलाना बड़े से बड़े साधक की शक्ति से भी बाहर है। वे केवल सामयिक रूप से भोग को रोक दे सकते हैं, किन्तु कर्म के कर्त्ता को अवशिष्ट कर्मफल का भोग अवश्य ही करना होगा– आवश्यकता होने पर इसके लिए पुनर्जन्म ग्रहण करना होगा

। कठिन व्याधि भोग रूप दण्ड मनुष्य को कुकर्म के कुफल से सचेत करा कर उसके मन में मुक्ति की इच्छा जगाता है, किन्तु अनेक भ्रष्ट और अज्ञ साधक अपनी साधना द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति के सहारे मनुष्य को भोग-यन्त्रणा से सामयिक निष्किति देकर इस जागृति के सुयोग से उसे वंचित कर देते हैं। वास्तव में वे आर्त्त का कल्याण से अधिक अकल्याण ही करते हैं।

साधनालब्ध शक्ति के प्रयोग को नास्तिकता कहा जा सकता है, क्योंकि अतिप्राकृत शक्ति की सहायता से भगवान द्वारा सृष्ट नियम की धारा में व्यतिक्रम लाना तथा भगवान की सर्वशक्तिमत्ता की अवहेलना करना क्या एक नहीं है ? कोई जल के ऊपर से चलकर नदी के उस पार जा सकते हैं, जलती हुई अग्नि के भीतर से चलकर पार हो सकते हैं या अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से किसी को कठिन रोग से मुक्त

कर सकते हैं, किन्तु यह सब करने के लिए उसको अवश्य ही जल तथा अग्नि से स्वाभाविक धर्म का तथा प्रकृति के कर्मफल भोग का नियम भंग करना होगा। नदी के जल पर चलने से कोई भी डूब जाता है, अग्नि के संस्पर्श में कुछ भी आने पर जल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को कृतकर्म का फल भोग करना ही है। इन सभी अनिवार्य परिणाम से बचने का अर्थ ही हुआ भगवान के प्रभुत्व को अस्वीकार करना। यह केवल अस्वीकार करना ही नहीं है वरन् सृष्टि के मौलिक उद्देश्य को नस्यात् कर देना है। इससे बढ़कर नास्तिकता और क्या हो सकती है !

प्रत्येक कर्म का प्रतिकर्म है और यह अवश्यम्भावी है। अलौकिक शक्ति का व्यवहार भी एक कर्म है– इसको नास्तिक कर्म या अपकर्म कहना ही ठीक होगा। ऐसे कर्म का परिणाम भोग मनुष्य को अवश्य ही करना होगा और जब

तक उससे सभी कर्मों का बीज या संस्कार भोग निर्मूल नहीं हो जाता है तब तक उसके लिए प्रकृति के बन्धन से मुक्त होना सम्भव नहीं है इसलिए आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति का व्यवहार किसी भी अवस्था में उचित नहीं है। इसका व्यवहार केवल अधःपतन का ही कारण होता है । इसलिए इस शक्ति के व्यवहार का लोभ यत्नपूर्वक संवरण करना होगा ।

साधना के द्वारा मुक्तिलाभ होता है । अतः इसके लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता है। जिन्होंने यह कौशल जान लिया है। केवल वे ही सिखा सकते हैं। इसलिए आध्यात्मिक साधना सीखने के लिए उपयुक्त शिक्षक ढूँढ़ना होगा। अतएव आध्यात्मिक साधना सीखने के लिए गुरु का प्रयोजन क्या अनस्वीकार्य नहीं है ? क्या कोई अपने आप ही यह सीख सकता है ? दूसरे किसी के द्वारा फाटक खोले बिना

या जञ्जीर से मुक्त किये बिना हाथ-पैर बँधा बन्दी अपनी सैकड़ों चेष्टाओं द्वारा भी स्वयम् को कारामुक्त नहीं कर सकता है। उसी प्रकार प्रकृति अणुजीव को बाँध कर इस सुविस्तृत विश्व-कारागार में डाल दिया । किसी व्यक्ति या दूसरे की सहायता बिना मुक्ति पाना कभी भी सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी के लिए कोई कला-कौशल अपने आप पूर्ण रूप से सीख लेना सम्भव नहीं है। इसके लिए सुविज्ञ शिक्षक का प्रयोजन है जो सिखा सकते हैं या जिनका अनुसरण किया जा सकता है. । ऐसे अत्यावश्यक शिक्षक को ही गुरु कहा जाता है । आध्यात्मिक साधना का कौशल भी गुरु से सीखना होता है। इसलिए गुरु के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है मुक्ति पाने के लिए प्रथम तथा प्रधान आवश्यकता है गुरु की ।

एक बँधा हुआ मनुष्य दूसरे बँधे हुए मनुष्य को बन्धनमुक्त नहीं कर सकता है । इसलिए केवल मुक्त पुरुष ही गुरु हो सकते हैं तथा दूसरे की मुक्ति के हेतु सहायक हो सकते हैं । प्रकृति के गुणबन्धन से जो मुक्त हैं वे ही मुक्त पुरुष हैं। इस विचार से परम निर्गुण सत्ता ही केवल मुक्त पुरुष कहे जा सकते हैं । किन्तु, निर्गुण ब्रह्म स्वयम् गुण रहित होने के कारण दूसरे को मुक्ति का कारण नहीं हो सकते हैं–यहाँ तक कि उनमें दूसरे की मुक्ति कामना की सम्भावना भी नहीं है। इसलिए साधना द्वारा परम पद प्राप्त कर जनकल्याण के लिए संकल्प लेकर पुनः स्वेच्छा से निर्दिष्ट काल के लिए प्रकृति के गुण के अधीन होते हैं तथा मनुष्य की देह धारण करते हैं वे ही केवल गुरु हो सकते हैं । जितने दिनों तक वे देह धारण कर रहे हैं केवल उतने ही दिनों तक वे प्रकृति के गुण के अधीन रहते हैं देह त्याग करने पर वे परम सत्ता में फिर से लीन हो जाते हैं। परम गुणाधीश सत्ता या भगवान ही

मुक्त हैं और इसलिए वे ही गुरु हैं अर्थात् गुरु और भगवान में कोई पार्थक्य नहीं है। वे इस परम सगुण सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई तथा कुछ भी नहीं हो सकते हैं । इसलिए गुरु ही हैं अवतार रूप में सगुण ब्रह्म या भगवान । अपने प्रत्येक अणु को मुक्त करना सगुण ब्रह्म की इच्छा है और इसी इच्छा से उन्होंने सृष्टि की रचना की है। किन्तु, सगुण ब्रह्म स्वयम् एक रूप-रेखाहीन, देखने सुनने से परे एक सत्ता होने के कारण मुक्ति अर्जन करने में मनुष्य के सहायक नहीं हो सकते हैं । अणु की मुक्ति प्रचेष्टा में सहायक बनने के लिए उनको मानवाधार ग्रहण करना पड़ता है । उनके इस धारण किये हुए आधार को ही गुरु कहते हैं। इसलिए गुरु अवतार रूप में भगवान हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

मुक्त पुरुष या सद्गुरु जगत् में दुर्लभ हैं किन्तु फिर भी सद्गुरु की खोज में पर्वत, गुफा, जंगल में जाने की

आवश्यकता नहीं है क्योंकि सृष्टि रचना के पीछे जब सगुण ब्रह्म की मौलिक इच्छा ही है अपने प्रत्येक अणु की मुक्ति का उपाय करना तो मुमुक्षु अणु को उपयुक्त समय पर दर्शन देकर कृतार्थ करना भी उन्हीं का काम है मुमुक्षु अणु की प्रबल इच्छा को चरितार्थ करने के लिए सगुण ब्रह्म सद्गुरु के रूप में उपयुक्त समय पर ही दर्शन देते हैं। ऐसी नहीं होने से सृष्टि का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता तथा स्रष्टा स्वयम् ही सृष्टि के बन्धन का कारण हो जाता। इसलिए सद्गुरु के सन्धान में घूमते फिरना निष्प्रयोजन है–प्रयोजन है केवल मुक्ति हेतु प्रबल इच्छा जगाने की ।

अब हम लोगों को यह जानना चाहिए कि सद्गुरु का विचार कैसे करेंगे जिससे कि आम जनता भी उनको सहज ही में पहचान सकें । अलौकिक शक्ति का अधिकारी होना या प्रदर्शन करना ही क्या सद्गुरु की विशेषता है ? किन्तु, सभी

विभूतियों से सम्पन्न मुक्त पुरुष के लिए सद्गुरु रूप में स्वीकृति लाभ के लिए क्या विभूति प्रदर्शन का कोई प्रयोजन है ? पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी अवस्था में अतिप्राकृत शक्ति का व्यवहार मनुष्य का नैतिक अधःपतन कराता है तथा उसको अविद्याश्रयी बना देता है किन्तु मुक्त पुरुष कभी भी अविद्याश्रयी नहीं हो सकते हैं या अविद्यामाया कभी भी उनके ऊपर अपने प्रभाव का विस्तार नहीं कर सकती है। इसलिए जो अपनी अतिप्राकृत शक्ति का प्रदर्शन कर सद्गुरु के रूप में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करते हैं वे प्रतारक हैं, वे मुक्त पुरुष हो ही नहीं सकते हैं । इस प्रकार के खल व्यक्ति से दूर रहना ही उचित है। अलौकिक शक्ति का अधिकारी होना तथा उसके प्रदर्शन द्वारा सद्गुरु का विचार नहीं किया जाता है। सद्गुरु मुक्त पुरुष हैं, प्रकृति का प्रभाव उनको स्पर्श नहीं कर सकता है । अविद्यामाया से उत्पन्न षट् रिपु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) और

अष्ट पाश (घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, मान) का बन्धन जाल उनको वश में नहीं कर सकता है। वे विद्यामाया की सहायता से सृष्टिचक्र के भौतिक विशेषता के साथ कदम मिलाकर चलते हैं अर्थात् वे विवेक और वैराग्य का अनुगमन करते हैं। केवल ऐसे व्यक्ति ही सद्गुरु कहलाते हैं ।

सद्गुरु द्वारा प्रवर्तित साधना पद्धति का अनुशीलन कर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, किन्तु साधना नहीं करके केवल सद्गुरु के ऊपर निर्भर करने से कभी भी सफलता नहीं मिलती है। बिना साधना के मुक्ति असम्भव है इसलिए साधना सभी को करनी होगी। अनेक के मन में ऐसी भ्रमात्मक धारणा रहती है कि उनकी स्वयम् कोई चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं है, सद्गुरु की कृपा से ही वे मुक्त हो जायेंगे । यह बात सत्य है कि सद्गुरु की कृपा बिना मुक्ति

सम्भव नहीं है, किन्तु ऐसा समझ कर अपनी चेष्टा बिना ही मुक्ति पाने की धारणा उचित नहीं है । उनकी कृपा पाने के लिए पहले स्वयम् को कृपा पाने योग्य बनाना होगा, अयोग्य शिष्य पर उनकी कृपा नहीं हो सकती है। उनका कृपापात्र बनने के लिए उनमें विश्वास रखकर, भक्तिपूर्ण चित्त से उनकी बताई हुई साधना पद्धति का अनुशीलन करना होगा। वे ही मेरे लिए सब कर देंगे ऐसी धारणा रखकर, हाथ-पैर समेट कर निश्चेष्ट होकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा कोई-कोई ऐसी धारणा भी रखते हैं कि सद्गुरु आर्त्तजनों के कल्याण का ब्रत लेकर ही मर्त्य भूमि पर अवतीर्ण हुए हैं। अतएव सन्ध्या समय जिस प्रकार गायों का चरवाहा चराई की भूमि से सभी गायों को खोजकर घर की ओर ले जाता है उसी प्रकार अपने महाप्रस्थान के समय वे अवश्य ही सभी को अपने साथ ले जायेंगे। यह एक बेमेल उपमा है सद्गुरु गाय आदि पशु के जैसा मनुष्य चराने के लिए पृथ्वी पर नहीं आते

हैं, वे आते हैं मनुष्य को अपने ही समान मुक्त करने का पवित्र संकल्प लेकर । बन्धन से छुटकारा पाकर बहु-इच्छित मुक्ति का रसास्वादन के लिए मनुष्य को दूसरे पर निर्भरशील न होकर स्वयम् को अध्यात्मिक अनुशीलन में यत्नवान होना होगा ।

साधना प्रारम्भ करते ही असुविधाओं की सृष्टि होती है और साधना में अग्रगति के साथ ही साथ बाधा-विपत्ति भी बढ़ती जाती है । साधना है प्रकृति के बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयास प्रकृति-सृष्ट मन स्वयम् विकृत होकर बन्धन को अटूट रखता है। मुक्ति के लिए मन को विकृति से छुटकारा पाकर स्वाभाविक अवस्था में चला जाना होगा । पहले ही कहा जा चुका है कि यह विकृति प्रतिकर्मों की प्रतिक्रिया के सिवा और कुछ भी नहीं है । इसलिए जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कार (प्रतिक्रिया का बीज) का भोग किए बिना

मुक्तिलाभ करना सम्भव नहीं है साधारणतः कर्म के साथ ही साथ मनुष्य प्रतिकर्म का भी भोग करता जाता है । कुछ अभुक्त संस्कार रह जाने पर उसको भोगने के लिए पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। साधक संस्कार भोगने के लिए पुनर्जन्म नहीं चाहते हैं मुक्ति हेतु इस जन्म में ही अभुक्त संस्कार यथाशीघ्र भोग लेना चाहते हैं इसलिए भोग-सञ्जात दुःख-कष्ट और बाधा-विपत्ति को जय का संकेत समझ आदरपूर्वक वरण करना होगा

साधना का तात्पर्य है प्रकृति के गुणबन्धन से मुक्त होना । अविद्यामाया भी एक गुणबन्धन है, इसलिए इससे भी मुक्त होना होगा। बहुत दिनों तक यदि कोई किसी घर में निर्विघ्न रह रहा है तो उसको हठात् बलपूर्वक हटाना एक कठिन कार्य है। आसानी से वह घर नहीं छोड़ेगा, वह प्राणपण से बाधा उपस्थित करेगा। अपना समस्त छल-बल और कला-

कौशल व्यर्थ हो जाने पर ही वह मालिक को घर पर पुनः अधिकार कायम करने देगा । उसी प्रकार जन्मान्तर से आश्रित तथा सम्पुष्ट अविद्यामाया साधना प्रारम्भ करते ही भाग नहीं जाती है, वह यथाशक्ति बाधाओं की सृष्टि कर ठहरे रहने की चेष्टा करती है। सद्गुरु द्वारा दी गई साधना पद्धति अविद्यामाया को दूर हटाने का एक उपाय मात्र है । साधना की सिद्धि से ही मनुष्य अविद्यामाया से छुटकारा पा सकता है इसलिए प्रकृत साधना प्रारम्भ करते ही अविद्यामाया की ओर से प्रबल बाधा उपस्थित होने लगती है, जिससे मनुष्य बाधाओं से व्याकुल होकर साधना पथ त्यागने के लिए बाध्य हो जाए। अतएव जो साधना, अविद्यामाया के ऊपर प्रबल आघात करती है या उसको पदानत करने का प्रयास करती है, स्वाभाविक रूप से ही अविद्यामाया को अन्धी जड़शक्ति के समीप प्रबल बाधा का सामना करनी पड़ती है किन्तु साधना में बाधा-विघ्न का आना अविद्यामाया की पराजय की ही

सूचना देता है । भगवान सद्गुरु कभी भी साधना में बाधा की सृष्टि नहीं करते हैं, क्योंकि उनकी यही इच्छा है कि प्रत्येक अणु साधना के द्वारा उन्हीं के समान मुक्त हो सकें। यह बाधा-विघ्न प्रकृति की अविद्यामाया द्वारा सृष्ट होता है । साधना रूपी अस्त्र का प्रयोग कर संग्राम में प्रकृति को पराजित कर मुक्ति लाभ करना होगा ।

सृष्टिलीला में सगुण ब्रह्म अपने प्रत्येक अणु को साधना करके मुक्तिलाभ करने में सहायता देने के उद्देश्य से विकशित चैतन्य मनुष्य के स्तर तक ला देते हैं। अन्य प्राणियों में चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं है, इसलिए साधना करके मुक्तिलाभ करने का सामर्थ्य भी उनमें नहीं है। किन्तु अणुचैतन्य के व्यापक विकाश के कारण कोई भी मनुष्य साधना का अधिकारी है अगर सभी जीव-जन्तु जब तक

मनुष्य के स्तर तक नहीं पहुँचते हैं, तब तक वे साधना के सुयोग से वंचित रह जाते हैं ।

प्रत्येक मनुष्य ही साधना का अधिकारी है, इसलिए सद्‌गुरु के रूप में सगुण ब्रह्म को सभी के पास जाना पड़ता है किन्तु, मुक्ति की तीव्र आकांक्षा नहीं होने से मनुष्य अपने इस अधिकार का दावा नहीं कर सकता है और इसीलिए सगुण ब्रह्म को भी सबके पास जाना नहीं पड़ता है । मुक्ति की इच्छा प्रबल होने पर ही मनुष्य सद्‌गुरु को पाता है । केवल उन्हीं लोगों के लिए कहा जा सकता है कि उपयुक्त समय उपस्थित हुआ और वे ही साधना तथा सद्‌गुरु को पाने के अधिकारी है ।

चैतन्य की पूर्णाभिव्यक्ति होने पर मनुष्य अच्छे बुरे का पार्थक्य निरूपण कर तदनुसार कर्म कर सकता है।

मुक्तिलाभ करने की इच्छा एक सत्कर्म है तथा सभी कर्मों के समान इस कर्म को भी मनुष्य को स्वयम् ही करना होगा इसलिए मुक्ति के लिए एक प्रबल इच्छा जगाना तथा साधना का अधिकार प्राप्त करना मनुष्य के अपने कर्म पर ही निर्भरशील है केवल प्रकृत आग्रहशील व्यक्ति को ही सद्गुरु साधना सिखाते हैं, इसलिए उन पर पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकते हैं। सभी मुक्त हों, ऐसी इच्छा सगुण ब्रह्म को होने पर भी पूर्णाभिव्यक्त चैतन्य का सुयोग पाकर मुक्ति के लिए एक तीव्र आकांक्षा जगाकर साधना का अधिकारी बनना मनुष्य की अपनी चेष्टा पर ही निर्भर करता है मुक्ति के सम्बन्ध में उदासीनता ही मनुष्य को सद्गुरु पाने से वंचित करती है, इसके लिए भगवान को दोष देना निरर्थक है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि मुक्ति के लिए एक तीव्र आकांक्षा जगा कर भगवान की इस सृष्टिलीला के गूढ़ उद्देश्य को सफल बनावे ।

अपने समान प्रत्येक अणु को मुक्त करने की इच्छा से ही सगुण ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना की है। यही जब उनकी इच्छा है तो प्रत्येक अणु, आज हो या कल, मुक्त होगा ही किन्तु, साधना के द्वारा ही मुक्ति मिलेगी अर्थात् मुक्ति के लिए साधना मनुष्य को करनी ही होगी। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति वृथा समय नहीं गवाँकर यथाशीघ्र साधना प्रारम्भ कर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इस विषय में किसी प्रकार का विलम्ब करने का अर्थ है स्वयम् को व्यर्थ ही जागतिक दुःख-कष्ट से जर्जरित करना । कैम्प के अस्थायी वासस्थान को स्थायी वासस्थान समझकर उसकी असुविधाओं को भोगते रहना मूर्खता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । इसलिए नश्वर पाञ्चभौतिक जगत् का मोह त्याग शाश्वत लक्ष्य की ओर दृढ़संकल्प होकर आगे बढ़ना ही बुद्धिमान का काम है। सभी को एक दिन इस लक्ष्य पर पहुँचना होगा। इसलिए

साधना करके जितना शीघ्र सम्भव हो मुक्ति अर्जन करना मनुष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है ।

सूचीपत्र

मनुष्य साधना से क्यों भयभीत होते हैं ?

आध्यात्मिक साधना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य होने पर भी बहुत कम ही मनुष्य यह करते हैं । इसका कारण है कि मनुष्य साधारणतः साधना के नाम से भयभीत होते हैं और इसी कारण उससे दूर रहते हैं। किन्तु, उनका भय कहाँ तक युक्तिसंगत है यह देखना चाहिए ।

सर्वप्रथम तो वे ऐसा सोचते हैं कि दैनिक जीवनधारा को अवाधित रखते हुए साधना करना सम्भव नहीं है, इसके लिए संसार त्याग देना होगा। वे लोग समझते हैं कि मुक्ति केवल नैष्ठिक तपस्वियों के ही लिए लभ्य है, साधारण मनुष्य की पहुँच के बाहर है। किन्तु, वास्तव में उन लोगों का ऐसा विश्वास या भक्ति बिलकुल ही युक्तिग्राह्य नहीं है। विचार करने पर यह देखते हैं कि उन लोगों के उपर्युक्त विश्वास के समर्थन में संसार त्याग देने से साधना के लिए केवल एक सुविधा प्राप्त होती है और वह है अविद्यामाया सृष्ट जागतिक मोह और विपत्ति से सामयिक छुटकारा पाकर एकान्त जीवन व्यतीत करने का कुछ सुयोग। केवल इसी असुविधा के हेतु मनुष्य साधना के लिए संसार त्याग करना अनिवार्य समझते हैं। यह बात अवश्य ही अस्वीकार नहीं की जा सकती है कि जनसमुदाय की भीड़-भाड़ साधना के पथ में

एक बाधा है और वन की निर्जनता उसके अनुकूल है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि अविद्यामाया की अन्धी शक्ति ही बाधा-विघ्न की सृष्टि करती है। घर संसार त्याग कर केवल वन में चले जाने से ही मनुष्य इस अविद्यामाया के पञ्जे से छुटकारा नहीं पा सकता है। अविद्यामाया वन में भी उसका साथ नहीं छोड़ेगी । ग्राम-नगर के कलरव के बदले वहाँ जानवरों के विकट गर्जन के माध्यम से वह साधना में बाधा-विघ्न की सृष्टि करेगी । अपने-अपने निजी क्षोत्र में मनुष्य साधारणतः अभ्यस्त हो जाता है और इसलिए वह बड़ी से बड़ी असुविधा को भी कुछ नहीं समझता है और इसलिए अपेक्षाकृत निर्जन ग्राम से आया हुआ एक व्यक्ति कलकत्ता के चौरंगी में किसी घर में ट्राम और बस की घड़घड़ाहट के कारण एक घण्टा भी सो नहीं सकेगा । किन्तु, वहाँ का रहने वाला अभ्यस्त हो जाने के कारण सारी रात अच्छी तरह सोता है। उसी प्रकार कलकत्ते का कोई व्यक्ति निर्जन ग्राम में

जाने पर एक रात भी रहने में भयभीत होगा । इसलिए शहर-नगर के कलरव से सर्वप्रथम साधना में असुविधा होने पर उनको कोई असुविधा नहीं होती है। अतएव निर्जनता के लिए वन में जाना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है

अब देखना होगा कि वन से भाग जाने पर मनुष्य जागतिक मोह दूर रह सकता है या नहीं। मोह अविद्यामाया की ही सृष्टि है। साधना से द्वारा अविद्यामाया का प्रभाव दूर हटा कर ही इसके हाथ से छुटकारा पाना होगा । अविद्यामाया का प्रभाव दूर हटाये बिना कोई भी जागतिक मोह बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता है अध्यात्मिक साधना में अग्रसर 'होने से ही अविद्यामाया का कठोर बन्धन शिथिल कर सकेंगे, केवल संसार त्याग देने से या जंगल में भाग जाने से कोई लाभ नहीं होता है। इसमें अवश्य ही कोई संदेह नहीं है कि स्वयम् को आकर्षण के विषय से दूर रख

सकने पर आकर्षण भी धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और विषय की उपस्थिति से या उसमें लिप्त रहने से आकर्षण गाढ़ा होता जाता है। किन्तु, बलपूर्वक या बाध्य होकर वस्तु में लिप्त रहने की भावना को त्याग देने से मन में अवश्य ही कष्ट होगा। कष्ट की मात्रा अत्यधिक होने पर वह मन में एक तरंग पैदा कर देगा जिससे किसी भी समय शारीरिक रोग उत्पन्न हो सकता है या साधक का नैतिक पतन करा सकता है । इसलिए सांसारिक जीवन छोड़ कर बलपूर्वक सांसारिक मोह त्यागने से कोई लाभ नहीं होगा । चारित्रिक या मानसिक बल की वृद्धि के लिए चेष्टित नहीं होकर संशययुक्त थोड़ा-सा सुयोग तथा सुविधा प्राप्त करने के उद्देश्य से संसार त्याग करने में कोई पौरुष या वीरत्व नहीं है। पौरुष प्रधान व्यक्ति जागतिक मोह-बन्धनों के बीच रह कर भी वीरों के समान उनका सामना करते हुए धीरे-धीरे उनको अपने वश में कर लेंगे, भयभीत होकर वे संसार छोड़कर भाग नहीं जायेंगे ।

साधना है अविद्यामाया के विरुद्ध संग्राम संग्राम में विजयी होने के लिए वीर के समान शत्रु का सामना करना होना, शत्रु को खुश करने से या उसके भय से भाग जाने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए जागतिक वस्तु में लिप्त हो जाने के भय से संसार त्याग करना युक्तिसंगत नहीं है।

सांसारिक दुःख-कष्ट के भय से संसार त्याग करना भी उसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है सामाजिक जीवन व्यतीत करने क लिए अर्थोपार्जन कर परिवार तथा परिजनों का भरण-पोषण करना पड़ता है, इसलिए यह थोड़ा कष्टदायक है। यह बात भी है कि यदि अर्थोपार्जन उचित ढंग से नहीं किया तो रोग यंत्रणा तथा भाग्य विडम्बना के अतिरिक्त दरिद्रता का कष्ट भी भोगना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से ही मनुष्य अपने सभी दायित्व और कर्त्तव्य की उपेक्षा कर केवल अपनी चिन्ता लेकर संसार त्याग देता है। किन्तु, भागकर अपने को

बचाने की यह अपचेष्टा क्या उन पर निर्भरशील व्यक्ति के प्रति उदासीनता और कर्तव्यहीनता की द्योतक नहीं है ? संसार त्याग कर जो वन में भाग जाते हैं वे अपने कर्त्तव्य और दायित्व की उपेक्षा कर घोर स्वार्थपरता का परिचय देते हैं। कर्त्तव्यहीनता और स्वार्थपरता अनुचित कर्म है, इसलिए इसका कुफल भोगे बिना मुक्ति लाभ करना असम्भव है। यह भी है कि संसार त्याग देने से ही मनुष्य अपने परित्यक्त स्त्री-पुत्र की भावना मन से दूर नहीं कर दे सकता है अविद्यामाया के मोह रिपु द्वारा उत्पन्न प्रभाव से उनकी भावना उनके मन को चञ्चल कर देगी। परित्यक्त पुत्र-कलत्र तथा स्वजनों की भावना के कारण प्रगति रुद्ध हो जाती है । "जो लोग संसार का त्याग कर सकते हैं वे मानसिक क्लेश और उद्वेग का अतिक्रमण कर जाते हैं, ऐसा कहने का अर्थ है कि वे लोग अविद्यामाया के प्रभाव का ही अतिक्रमण कर गये है क्योंकि भावना या कर्म में अविद्यामाया के प्रभाव के

अधीन में पड़े व्यक्ति के लिए मानसिक क्लेश भोग की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है उनके लिए तो संसार में रहना और वन में जाना एक ही समान है क्योंकि अविद्यामाया के प्रभाव को ही दूर हटाने के लिए तो मनुष्य वनगमन करता है। यह उद्देश्य यदि सिद्ध ही हो गया तो वन में जाकर कठोर तपस्यापूर्ण जीवन यापन और संसार में रहकर स्वाभाविक जीवन-यापन — इन दोनों में से किसी से भी वे अभिभूत नहीं होंगे ।

केवल वस्तु का संग त्याग कर देने ही से मनुष्य अविद्यामाया का बन्धन-पाश तोड़ नहीं सकता है। इसके लिए उसको सूक्ष्म की ओर मन को ले जाना होगा । दूषित घाव की जगह को मक्खियों के उपद्रव से बचाने के लिए सदा मक्खियों को उड़ाते रहना कोई समाधान नहीं है, घाव को अच्छा करने की चेष्टा करनी होगी। सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट

साधना पद्धति ही है घाव को अच्छा करने का मलहम ।
अविद्यामाया का बन्धन शिथिल होते ही जागतिक मोह और दुर्भोग मनुष्य के आध्यात्मिक साधना में बाधक नहीं हो सकते हैं। इसलिए साधना-जो अविद्यामाया के हाथ से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है–सांसारिक जीवन का एक अंग समझकर आसानी से किया जा सकता है। प्रारम्भ में अविद्यामाया बाधा अवश्य देगी, किन्तु एकबार परास्त हो जाने पर वह फिर साधना में कोई बाधा सृष्ट नहीं कर सकेगी। संसार में नाना प्रकार की सुविधाओं के कारण संसारत्यागी से संसारी व्यक्ति को साधना का सुयोग अधिक है जंगल में भाग जाने से सांसारिक दुःख-कष्ट से भी परित्राण नहीं मिलता है सांसारिक जीवन में एक और बड़ी सुविधा है । जनकल्याण जो आध्यात्मिक साधना का एक मुख्य अंग है उसका सुयोग संसार में रहने से ही मिलता है। वन में चले जाने से उस सुयोग से वंचित हो जाते हैं। श्रद्धा-भक्ति सहित

सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना पद्धति का अनुशीलन संसार में रहकर भी कर सकते हैं, इसके लिए घर और संसार त्याग करना निष्प्रयोजन है। प्रकृति पर आधिपत्य पाने के साथ ही साथ अविद्यामाया का प्रभाव भी विलुप्त हो जाता है और अध्यात्म साधना ही है अविद्यामाया को हटाने का एकमात्र उपाय । इसलिए आध्यात्मिक साधना एक आवश्यक कर्म है । साधना के लिए स्थान विचार करना अर्थात् एक जगह को अच्छा या अनुकूल और दूसरी जगह को मन्द या प्रतिकूल समझने का अर्थ हुआ ब्रह्म को ही समालोचना करना । परिदृश्यमान जगत् में प्रत्येक स्थान परम ब्रह्म का विकाश है। इसलिए स्थान विशेष को अच्छा या खराब कहने का अर्थ हुआ ब्रह्म में आरोप करना । साधना यदि प्रारम्भ से ही अच्छा-बुरा के विचार पर गुण का आधारित होगी तो साधक के लिए सृष्ट जगत् के साथ एकात्म बोध जगाना कभी भी सम्भव नहीं होगा । ब्रह्म का प्रत्येक स्थान समान है और

कोई भी स्थान साधना के लिए उपयुक्त स्थान है । संसार त्यागकर वन में चला जाना बिल्कुल ही युक्तिहीन है और संसार छुट जाने के भय से साधना नहीं करना भी समान रूप से युक्तिहीन है ।

ब्रह्मचर्य के भय से भी बहुत लोग साधना से डरते हैं वे समझते हैं कि ब्रह्मचर्य का अर्थ ही है इन्द्रियनिग्रह अर्थात् स्त्री का संसर्ग पूर्ण रूप से वर्जन करना होगा । प्रचलित विश्वास के अनुसार वे समझते हैं कि इसके बिना साधना करना सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है और ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं यह जानना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन की बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना तथा पूर्ण रूप से उसे ब्रह्म को समर्पण करना । अब यह भी जाननी चाहिए कि मन की बहिर्मुखी वृत्ति क्या है और उनको कैसे अन्तर्मुखी किया जा सकता है । प्रकृति के प्रभाव से सूक्ष्म

सत्ता का स्थूल होना ही सृष्टि है इन्द्रियों के माध्यम से मनुष्य अपनी चारों ओर की जिन वस्तुओं को सदा ग्रहण करता है वे ही स्थूल सृष्टि हैं और मन सृष्टि का सूक्ष्म अंश है । इसलिए प्रकृति के बढ़ते हुए प्रभाव से मन सूक्ष्म से जड़ में क्रमशः परिणत होता रहता है । प्रकृति के प्रभाव के कारण मन की वृत्तियों की गति बहिर्मुखी होती है जिस कारण मन जड़ विषय में लिप्त हो जाता है । इसलिए मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का अर्थ ही है मन को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना या जड़त्व से सूक्ष्मत्व की ओर ले जाना । बहम स्वरूपतः सूक्ष्म हैं, इसलिए मन के जड़ से लिप्त रहने से उसे ब्रहम में समर्पित नहीं किया जा सकता है। मन की गति को जड़ से सूक्ष्म की ओर फिरा देने के लिए उसको ब्रहम में समर्पित करना होगा । मन के ऊपर से प्रकृति का प्रभाव हटने पर ही यह समर्पण सम्भव है क्योंकि प्रकृति ही मन को चारों तरफ जड़ विषय में लिप्त कर देती है। इसलिए ब्रहमचर्य

का अर्थ हुआ मन को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना और जिनका मन ब्रह्म में समर्पित होकर उन्हीं में लीन हो जाता है वे ही हैं। ब्रह्मचारी उनका मन जड़ से आकृष्ट नहीं होकर सूक्ष्म में सन्निविष्ट होता है तथा सर्वदा ब्रह्म में ही विचरण करता है। केवल साधना के द्वारा ही यह अवस्था प्राप्त करना सम्भव है अर्थात् साधना के प्रभाव से प्रकृति के बन्धन को शिथिल कर तथा मन को ब्रह्म में समर्पित करने पर ही मनुष्य ब्रह्मचारी हो सकता है ।

लौकिक विचार से काम रिपु को जय करना ही बह्मचर्य समझा जाता है, किन्तु वास्तव में षट्रिपु और अष्टपाश की प्रत्येक गति बहिर्मुखी होती है इन चतुर्दश रिपु और पाश में केवल एक काम रिपु को वश कर लेने से ही कोई भी ब्रह्मचर्य पालन नहीं कर सकता है। इन षरिपु और अष्टपाश से युक्त अविद्यामाया के कठोर बन्धन से मुक्त होने पर ही मनुष्य

ब्रह्मचारी हो सकता है। अविद्यामाया का बन्धन इतना दृढ़ है कि आध्यात्मिक साधना के बिना किसी भी तरह उसको अपने वश में करना सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक साधना किए बिना जो ऐसा करना चाहते हैं वे अपना समय व्यर्थ ही नष्ट करते हैं। आध्यात्मिक साधना जैसे-जैसे मन को जड़ से सूक्ष्म की ओर ले जाती है मनुष्य क्रमशः ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होता जाता है षट्रिपु और अष्टपाश की बहिर्मुखी गति तब धीरे-धीरे अपने आप ही कम होती जायेगी । उसका प्रभाव नष्ट हो जाने से मन बिल्कुल ही जड़ में लिप्त नहीं रह सकेगा । इसलिए आध्यात्मिक साधना प्रारम्भ करने के लिए स्त्री-संसर्ग त्याग करने का कोई प्रयोजन नहीं है जागतिक वस्तुओं के प्रति काम और मोह रिपु से उत्पन्न आसक्ति ही मनुष्य को स्त्री-संसर्ग से उत्साहित करता है । साधना के प्रभाव से इनका बन्धन शिथिल हो जाने पर योन-संसर्ग की अत्युग्र कामना मन को उत्पीड़ित करती है । इस विषय में

मनुष्य तब बहुत उदासीन हो जाता है। इसलिए साधना के लिए इसको त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता है । पहले ही कहा जा चुका है कि साधना है प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करना तथा संग्राम में उसको पराजित करना । साधना द्वारा अर्जित शक्ति अवश्य ही प्रकृति की शक्ति से अधिक है, इसलिए साधना के बल पर मनुष्य ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित हो सकता है अविद्यामाया का बन्धन कितना भी मजबूत क्यों न हो, साधना द्वारा अवश्य ही उसका मूलोच्छेद किया जा सकता है । इसलिए ब्रह्मचारी होने के लिए स्त्री संसर्ग वर्जित करने के बदले आध्यात्मिक साधना ही अत्यावश्यक है । इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य का लौकिक अर्थ वीर्यधारण, उपेक्षा का विषय नहीं है। स्नायुकोष और स्नायुतन्तुओं की परिपुष्टि के लिए शुक्रधातु और वीर्य का प्रयोजन अनिवार्य है । इसलिए मन को दृढ़ बनाने के लिए

तथा बौद्धिक विकाश के लिए इनको बचाकर रखना आवश्यक है ।

कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि पहले जीवन में धनोपार्जन कर वृद्धावस्था में सभी कर्मों से अवकाश ग्रहण कर साधना प्रारम्भ करेंगे । वृद्धावस्था में अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाने पर कर्म करने की शक्ति लुप्त हो जाती है । इसलिए शक्ति रहते यदि यथेष्ट धन उपार्जन नहीं कर लें तो वृद्धावस्था में सुख से कैसे रहेंगे, इस चिन्ता से मनुष्य व्याकुल होकर अपने जीवन के प्रथम भाग को अर्थोपार्जन के लिए ही लगाता है और वृद्धावस्था के कारण जब कर्म करने की क्षमता नहीं रहती है तब भगवान का नाम जप करता है । "साधना के लिए कठोर परिश्रम का प्रयोजन नहीं है", ऐसी भ्रान्त धारणा के कारण ही वे वृद्धावस्था को साधना के लिए उपयुक्त समय समझते हैं। जिसका जन्म हुआ है उसकी

मृत्यु भी अवश्यम्भावी है । कोई नहीं जानता है कि किसकी मृत्यु कब होगी । प्रत्येक मुहूर्त मनुष्य धीरे-धीरे मृत्यु की ओर जा रहा है । प्रत्येक मनुष्य वृद्धावस्था को प्राप्त होगा ही, यह निश्चित नहीं है किन्तु, फिर भी जीवन के सबसे गुरुत्वपूर्ण कार्य आध्यात्मिक साधना को वृद्धावस्था में करने के लिए रख छोड़ते हैं जबकि सम्पूर्ण जीवन के घात-प्रतिघात और कृतकर्मों के पश्चात्ताप से शरीर जीर्णशीर्ण हो जाता है, मन पुराने संस्कारों में लिप्त हो जाता है। और नवीन विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाता है । साधारणतः मनुष्य मृत्यु के भय से ही वृद्धावस्था में भगवान को स्मरण करता है। सम्पूर्ण जीवन में किये गये कुकर्मों के भय से भयभीत तथा असहाय होकर वह भगवान के सम्मुख कृतकर्मों के पाप से अपने को बचाने के लिए कातर होकर प्रार्थना करता है इसलिए बुढ़ापा के जीर्ण-शीर्ण देह और अवसत्र मन से सारे जीवन के संस्कार भोग जनित ग्लानि के

साथ भगवान का नाम जप करने से कोई फल नहीं मिलता है क्योंकि बुढ़ापे के कारण शारीरिक दुर्बलता, रोग-व्याधि और आने वाली मृत्युभय और अतीत जीवन की चिन्ताओं में ग्रस्त मन तब किसी भी प्रकार एकाग्र होकर आध्यात्मिक साधना नहीं कर पाता है एक बहुत प्रचलित कहावत है, “काँचा थाकते नुए बाँस, पाकले करे टाँस-टाँस" (कच्चा बाँस ही नवता है, पका बाँस नवाने से फट जाता है) अर्थात् नया कुछ भी जीवन के प्रारम्भ में ही करना चाहिए अध्यात्मिक साधना के विषय में भी यही बात है

कुछ लोग जागतिक भोग-विलास छूट जाने के भय से दूर भागते हैं यह अकारण भय उन लोगों को आध्यात्मिक अनुशीलन से वंचित कर देता है पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव के फलस्वरूप ही जागतिक भोग्य वस्तुओं का उद्भव हुआ है और मनुष्य अविद्यामाया की

प्रबलता के कारण इनको यथार्थ समझकर इसकी ओर आकृष्ट होते हैं अध्यात्म साधना से अविद्यामाया का प्रभाव धीरे- धीरे समाप्त हो जाने से मन की गति भी सूक्ष्म की दिशा में हो जाती है। उस समय जागतिक भोग्य वस्तुओं का मोह भी हट जाता है। अविद्यामाया के आश्रयी काम, मोह और लोभ-ये तीनों रिपु मनुष्य को भोग्य वस्तुओं की ओर ले जाते हैं और इसका प्रभाव कम होते ही भोगोन्माद का भी ह्रास हो जाता है । साधारणतः मनुष्य जागतिक भोग-विलास से हर्षित होता है । और भोग-विलास त्यागने की भावना से दुःखी होता है । किन्तु, मन के निर्लिप्त हो जाने पर इनके त्याग करने का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि इनके छूट जाने से मन में तब कोई भी कष्ट नहीं होता है वरन् मन उस समय सुख का अनुभव करता है । वांछित वस्तु नहीं पाने पर ही मन में दुख होता है, अनिच्छित वस्तु को प्राप्त करने की बात ही कहाँ उठती है उदाहरणार्थ, शराब के अभाव में शराबी को

बहुत कष्ट होता है किन्तु शराब से अनासक्त व्यक्ति का इससे कुछ भी आता- जाता नहीं । उसके मन में कष्ट होने का प्रश्न भी नहीं उठता क्योंकि इसके लिए उनको किसी प्रकार के अभाव का बोध नहीं होता है साधना द्वारा मन सूक्ष्म की ओर जाता है, जड़ विषय का भोग उसको नीरस मालूम होता है, यहाँ तक कि जड़ का संसर्ग भी उसको असहनीय हो उठता है ऐसी अवस्था में जड़ के छूट जाने का या नहीं पाने का दुःख मन में हो नहीं सकता है। कुछ लोग समझते हैं कि आध्यात्मिक साधना के लिए भोग-विलास से अपने को बलपूर्वक दूर हटाना होगा और इस भावना से वे घबड़ा जाते हैं । किन्तु इस प्रकार जबरदस्ती करके मन को कभी भी वश में नहीं किया जा सकता है क्योंकि जबरदस्ती मन को विषय से दूर रखने पर शरीर के ऊपर इसका प्रभाव पड़ेगा और इससे स्वास्थ्य गिर जाएगा। साधना मार्ग में कहीं जबरदस्ती करने का प्रश्न ही नहीं होता है । सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना

पद्धति में ऐसा ही माहात्म्य है कि साधक के अनजाने ही मन जड़ को भूलकर सूक्ष्म की ओर बढ़ता जाता है और धीरे-धीरे जड़ का साथ सम्बन्ध सम्पूर्णतः छोड़ देता है । इसलिए भोग-विलास को त्यागने के भय से साधना नहीं करना भूल है। इससे कोई युक्ति नहीं है ।

विचार पूर्वक देख चुके हैं कि साधना से भयभीत होना अकारण है । मनुष्यमात्र का अवश्यकरणीय साधना को अकारण भय से भयभीत होकर त्याग देना केवल मूर्खता है, इसलिए भय से घबड़ा कर किसी को भी साधना का मार्ग नहीं त्यागना चाहिए, साधना द्वारा ही मनुष्य को आत्मोपलब्धि करनी होगी–अपने "भूमा मैं" को जानना होगा ।

समाप्त

[यह लेखन पीछे का कवर पन्ना में है।]

"तुमलोगों को दर्शन पड़कर लोग समझेंगे कि तुमलोगों का आदर्श कितना ऊँचा और संकीर्णतामुक्त है। मैं आशा करता हूँ कि एक दिन तुमलोग सम्पूर्ण विश्व को इस उदार, सार्वभौम, असम्प्रदायिक भावधाराओं में प्रेरित करके विश्व भ्रातृत्व प्रतिष्ठित कर सकोगे"

शुभमस्तु । इति-

- श्रीप्रभातरञ्जन सरकार

सूचीपत्र

**********X**********

घोषणा

लिंग, जाति, पंथ, धर्ममत, अमीर , गरीब आदि को विचार किए बिना सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक साधना सीखने , अभ्यास करने और आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त करने का समान अधिकार है। अध्यात्मिक साधना विज्ञान को 'योग' भी कहा जाता है। योग के ज्ञान का कभी भी व्यावसायिक उद्देश्य के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। इसका वितरण नि:शुल्क होना चाहिए। यह साधना कोई भी आदमी "आनंद मार्ग प्रचारक संघ" के सन्यासियों और सन्यासिनीयों से किसी भी समय, नि:शुल्क सीख सकता है।

मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य परम शांति या आनंद का अनुभव करना है। केवल ईश्वर प्राप्ति के द्वारा ही आनंद प्राप्ति कर सकता है। योग साधना से ही ईश्वर

प्राप्ति संभव है; और कोई रास्ता नहीं है।